संपादकीय

महाकाव्य प्रारम्भ में **इतिहास** की शक्ल में ही थे। बाद में प्रतिक्रांति (ई.पू.२००) के पश्चात इन्हें **धर्मग्रंथ** का रुप मिल गया। और आगे की शताब्दियों में से धर्मग्रंथ भी नहीं रहे बल्कि इन्हें **धर्मशास्त्र** के रुप स्वीकृत कर लिया गया। इन प्रयत्नों का उद्देश्य ब्राह्मणवाद की पुनर्स्थापना करना साथ ही उसकी जड़ों को इतनी मजबूत करना था कि भविष्य में ब्राह्मण-व्यवस्था को कोई शक्ती जरा-सा हिला भी नहीं सके।

हमारे सामने वैश्विक इतिहास का उदाहरण है। यूरोप भी एक जमाने में अंधविश्वासों, चर्च के कर्मकाण्डों और पोप के असीमित अधिकारों के प्रतिफल में प्रताड़ित हो रहा था लेकिन वहाँ जागरण हुआ। चर्च की सत्ता और सीमाओं पर सवाल खड़े किये जाने लगे। और अंततः एक नये यूरोप का जन्म हुआ। साहित्य, विज्ञान, इतिहास, कला और संस्कृति मुक्त हुई। एक नया जीवन प्रवाह शुरु हुआ। लेकिन! अपने देश में जागरण अवरुद्ध हुआ।

यह सब कैसे सम्भव हुआ? इसका एक ही उत्तर है 'तर्क' पर पहरा बैठा दिया गया। अब इतिहास भी कैद हो गया। इतिहास की गति अवरुद्ध हो गई। 'शिक्षा' को कुछ मुट्ठीभर लोगों तक सीमित करने के फरमान जारी हुये। यह सबसे बड़ा राष्ट्रीय आत्मघात था और इसी क्रम में देश की रक्षा करने का अपने बालबच्चों, महिलाओं, अपनी संपत्ती और अपनी ऐतिहासिक धरोहरों को बचाने का अधिकार केवल कुछ वर्ण विशेष के हाथों में सौंप दिया गया। यह सब धर्म के नाम पर किया गया और इतिहास की नजरों में यह सबसे बड़ा राष्ट्रीय आत्मघात था!!

श्रमण संस्कृति को नष्ट करने के लिये उन्होंने आपादधर्म के नामपर खुद शस्त्र उठा लिये। प्रतिक्रांति घटित होने के बाद ब्राह्मणों के हाथों में शक्ती असीमित रुप से आ गई थी। जिसमें, धर्म, शिक्षा, अर्थ, राजनीति, न्याय, प्रशासन और समाज जीवन के अन्यान्य सभी क्षेत्र उनके नियंत्रण में पूरी तरह आ गये थे।

यह वह समय था जब महाकाव्य यथा रामायण, महाभारत भी नहीं बचे उनमें भी ऐसी कथाओं को जोड़ा गया जिसके संकेत शूद्रों और अस्पृश्यों के दमन करन से सम्बन्धित थे। शम्बूक एवं एकलव्य की कथा उदाहरण के तौर पर लिया जा सकता है।

यही वह समय था जब लाखों-लाखों लोगों को जिन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था बदला लेने के लिये दंड दिया गया। और दंड भी ऐसा कि जिंदा रहेंगे परन्तु इंसान की गरिमा से वंचित- जानवर की तरह या उससे भी बद्तर अवस्था में। ये दंड किसी एक व्यक्ती को नहीं था उसकी पूरी जाति-समाज को था। यह दंड एक निश्चित अवधि के लिये नहीं था परंतु पीढ़ी-दर-पीढ़ी अंतहीन काल के लिये था। हजारों सालों तक इन लोगों ने कितना भयानक कष्ट भोगा वह एक अलग इतिहास है। किसने किया था वह अपराध? वह अपराध करने वाला मनु था। वह मनु ही था जिसने अपने समकालीन और पूर्ववर्ती धर्मशास्त्रों का निचोड़ उस धर्मशास्त्र में लिखा जिसे सदियों तक ला आफ द लैंड का स्वरुप प्राप्त हुआ।

ये मात्र अतीत के प्रसंग नहीं है न कोई बनाई गई कहानियाँ है ये घटित हुआ है। लेकिन वे ब्राह्मण पीड़ित लोग अपनी पीड़ा के मूल कारणों को, उन कारणों के पीछे जो छुपे हुये लोग थे उनकी पहचान को भूल गये।

यह उनका भूलना महंगा पड़ गया इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी। इस ब्राह्मण द्वारा नियोजित प्रतिक्रांति का परिणाम भविष्य के इतिहास में संपूर्ण भारतदेश को भुगतना पड़ा। यह एक ऐतिहासिक विश्लेषण की मांग करता है कि क्यों यह देश हारे हुये लोगों का देश बन गया। यह अपने इतिहास का विस्मरण गुलामी के शिकंजों में फंसे रहने का एक कारण बन गया। हमें इस प्रश्न का उत्तर खोजना होगा कि यह देश विदेशियों का गुलाम क्यों बन गया हमें यह भी पता लगाना होगा कि क्या आजादी का अर्थ केवल विदेशी सत्ता से मुक्त होना है; स्वदेशियों के हाथों में सत्ता होना मात्र है। क्या सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आजादी कोई अर्थ नहीं रखती है। क्या आदमी केवल खाने के लिये जिंदा रहता है। क्या उसको अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये इच्छा नहीं होती है? असल में इस देश में लाखों करोड़ों लोग स्वशासन के बाद भी मानसिक दासता से आजाद नहीं हो सके है। यह मानसिक गुलामी का प्रत्यक्ष कारण वो धार्मिक विश्वास एवं धारणायें है जो यह संकेत देती है कि सारी निर्योग्यताओं का और अमानवीय पीड़ाओं, दशाओं, गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा का कारण पिछले जन्मों का फल है। तकदीर है। प्रारब्ध है। और आदमी ने स्वीकार कर लिया। उसकी यह स्वीकारोक्ती भारी पड़ गई। यह **'पूर्वजन्म'** के दर्शन ने इस देश के ८०-८५ प्रतिशत लोगों को कंगाल, अछूत, अनपढ़ की जिंदगी के विरुद्ध उठ खड़े होने की बलवती इच्छा को रोक दिया।

विस्तार में न जाकर हम मूल प्रश्न की ओर लौटते हैं कि करोड़ों की संख्या में लोग अपने इतिहास को क्यों भूल गये? शायद यह सवाल समस्या को पूरी तरह उधेड़ने में समर्थ नहीं है। असल में यह पूछा जाना चाहिये कि धर्मशास्त्रों पर सवाल क्यों नहीं खड़े किये गये? अछूत क्यों है? और इससे छुटकारा क्यों नहीं मिलता, कुछ जातियाँ शूद्र क्यों हैं- उसे समाज में निम्न दर्जा क्यों है यह सवाल लोगों ने खुद से करना चाहिये था? इस देश में सर्वाधिक पिछड़ापन किन समाजों में है और वह पिछड़ापन इन ६७ सालों में भी यथावत बने रहना उन्हें परेशान क्यों नहीं करता है?

इस तरह के सवाल ही हमें आत्मबोध की ओर, अपनी 'पहचान' की ओर, इतिहास में अपनी स्थिति की ओर ले जाते है? लेकिन इस तरह के सवाल हम खुद से कब पूछ सकते है? जब हमारे मन में अपनी दशा के कारणों को जानने की जिज्ञासा हो, बेचैनी हो। यह जिज्ञासा, यह बेचैनी तर्क से पैदा होती है। संदेहवाद से पैदा होती है। और यह देश, यह मूलनिवासियों का देश, यह बहुजनों का देश तर्क करना भूल गया। अपने आप से बहस करना भूल गया? नियति, भाग्य, प्रारब्ध, तकदीर के विरुद्ध तर्क करना ही आत्मबोध की ओर क्रमशः जाना है। आत्मबोध के ठीक विपरित अज्ञानता है। लगभग पूरा देश अज्ञानता के लपेट में है। अज्ञानता के कारण ही हम अपनी अस्मिताओं को अलग अलग रुपों में पहचानते हैं। और अलग-अलग अस्मिताओं ने अपनी अपनी जातीय पहचानों में हमें सीमित कर दिया है। जकड़ दिया है और हम अपने तथाकथित जातीय गौरव में रमे हुये हैं। हम अपनी ही जातिपर आत्ममुग्ध है। हमारी जातीय अस्मितायें स्वयं को भारतीय होने की भावना से विमुख करती है। अंत में इस सारी चर्चा का मूल निचोड़ क्या है? तर्क है। बहस है। हम लोग तर्क करना सीखें। हमारा तर्क विज्ञान संचेतना को जन्म देगा। जब सारे देश में विज्ञान संचेतना पैदा होगी तभी यह देश में ज्ञान का विस्फोट होगा। निम्न समाजों में जब तर्कवाद प्रारम्भ होगा, तर्क, बहस, संदेह वाद और बुद्धिवाद पर से पहरा हटाना होगा। यह पहरा हजारों सालों से है यह पहरा धर्मशास्त्र का है। वह धर्मशास्त्र ही है जो हमें पुनरजन्म पर विश्वास करने की मानसिकता का कारण बना है।

यह मानसिक गुलामी के बने रहते इस देश का आम आदमी मूलधारामें नहीं आ सकता है। शासक समाज नहीं बन सकता है। मानसिक गुलामी को खत्म करने का एक और केवल एक ही उपाय है– वह तर्क करना सीखें। यह तर्क ही हमें अपने इतिहास को समझने में सहायता देगा और हम मुक्त होगे। याद रखें कि हमारी गुलामी का मूल कारण जाग्रत नहीं होना है और जाग्रत नहीं होने का कारण इतिहास के प्रति उपेक्षा है। और तर्क केवल तर्क ही आप, हम सब को एक नई दुनिया में ले जायेगा ओर तब हमारी निर्योग्यताओं से मुक्ती का प्रारम्भ होगा।

महाभारत काल का समाज स्त्री के प्रति क्या दृष्टिकोण रखता था, धर्म के नाम पर उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाता रहा है इस मार्मिक पक्ष की ऐतिहासिक विवेचना ईशकुमार गंगानिया ने की है। स्त्री को शूद्र घोषित करनेवाले हिंदु धर्म शास्त्रों के ऐतिहासिक प्रमाण महाभारत में मौजूद है। महाभारत में स्त्री की जो व्यथा है वैश्विक इतिहास में शायद कहीं नहीं होगी! और ऊपर से तुर्रा यह कि भारत विश्व का गुरु है!! वास्तव में 'इतिहास' को उन घटनाओं को, सांप्रदायिक स्कूल के इतिहासकारों ने छुपाया है।

पिछले अंक में मुद्राराक्षस का शोध आलेख महाभारत के पीछे का महाभारत के बाद आज जन को महाभारत की स्त्री सम्बन्धी सच्चाईयों से रु–ब–रु कराया गया है।

इसी क्रम में उपनिषद पुनरीक्षण आलेख में वस्तुनिष्ठ एवं तार्किक दृष्टि से विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। मनुस्मृति को आम जन को सुलभ बनाने में युरोपियन विद्यवान सर विलियम जोन्स का कार्य स्तुत्य है यह पहली बार पाठक जानेंगे।

इतिहास पत्रकारिता को आज जन का प्रोत्साहन मिले यह जरुरी है। पाठकों की प्रति इतिहास चेतना की दिशा में एक जागरुकता निर्माण होगी।

(सुंदरलाल टाकभौरे)

ग्रीस, क्रिट द्वीप, मायसिनी, इजियन समुद्र तट के मूलनिवासी अर्थात राजा मिनॉस की प्रजा, सिंधु लिपि के ही लोग थे।

-पु.श्री.सदार
(सिंधु लिपि के प्रथम वाचक)
७१, कोतवाल नगर, नागपुर-२२
मो. ९७६३७९५६०२

जिस प्रकार भारत के मूलनिवासियों का पूरा प्राचीन इतिहास, आर्यों के आगमन के पहले का, हमें ज्ञात है उस प्रकार से युरोप के और खास करके आज के ग्रीस नाम से जाने जाने वाले प्रदेश के मूलनिवासी कौन थे इसका जिक्र युरोपीय इतिहासकार नहीं करते हैं। मानव जाति का जनक भारतीय मानव है और वह पंजाब के शिवालिक पर्वतों में शिवापिथिकेस नाम के नर-वानर से (Primate) उत्पन्न हुआ है ऐसा मानववंश शास्त्रज्ञ मानते है। जन्म से अग्रज होने के कारण ही भारतीय मानव सभ्यता के और अक्षर लिपि के विकास में भी प्रथम रहा है। यह सभ्यता और लिपि भारतीय मानव द्वारा दुनिया के अन्य देशों में भी ले जाई गयी थी।

Migration of Indus Civilization
B.C. 7000 to 5000

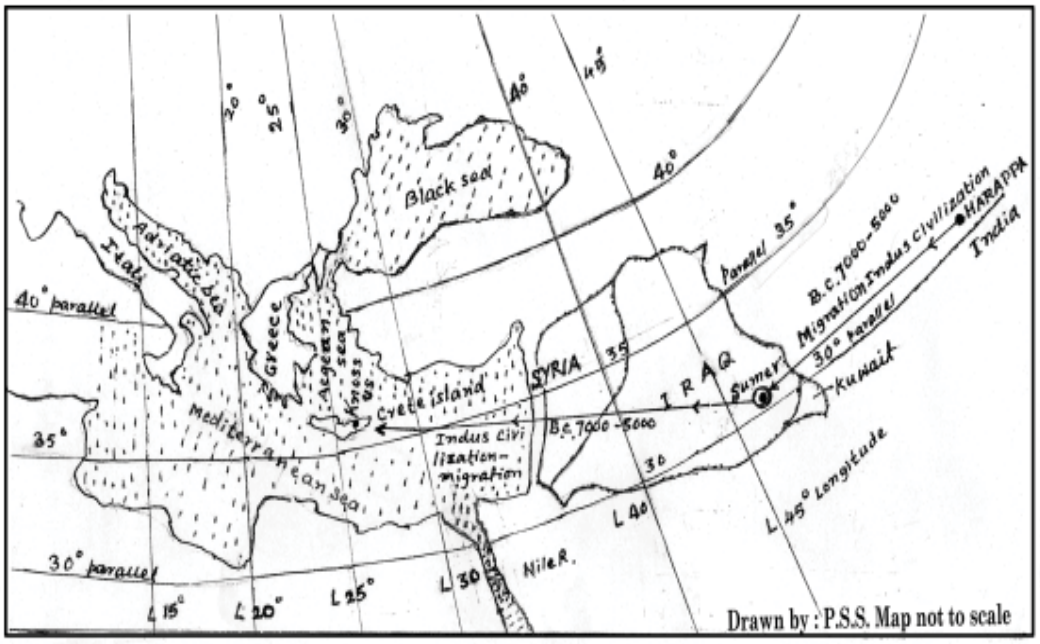

Chart No. 1

इनमें खास करके सुमेरिया (इराक) और भूमध्य समुद्र का 'क्रिट' द्वीप समाविष्ट है; देखें चार्ट क्र.१। इसी क्रिट देश के आसपास के देशों की सभ्यता सिंधु सभ्यता व लिपि के धनी राजा 'मिनॉस' ने विकसित की थी। यही सभ्यता ग्रीक जनजाति के लोगों को

READING LINEAR A - TYPE (CHART NO.2)
SCRIPT OF MYCENAE/MINOAN/AEGEAN/CRETE CIVILIZATION-BC 7000-1600

Source: David Diringer 1962 V.25 TYPE-A Script B.C.3000-1100 Crete-Greek	**Source:** Wikipedia-Encyclopedia TYPE-B Script B.C.1100-409 Crete-Greek	**Source:** Britannica Encyclopedia Modern Greek Script B.C.409	**Source:** L.A. Waddle-1927 London, Sumer-Aryan Alphabets and MARATHI & INDUS SCTRIPT by P.S. Sadar, Nagpur, India,2004	**Source:** North Semitic Alphabets B.C.1600-1300 by Sayed Ahmed Rampuri, India

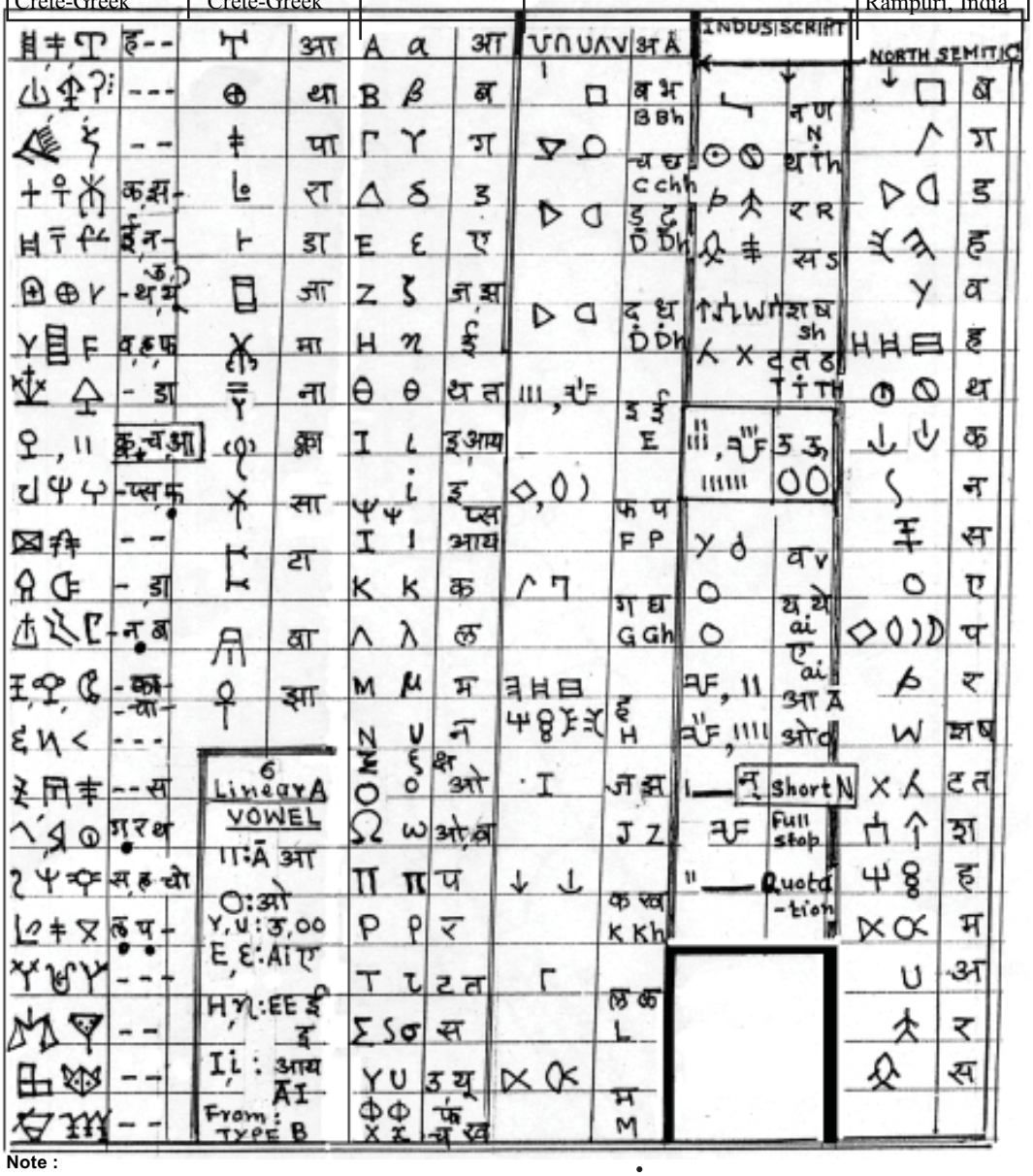

Note :

1. Dot (.) on the letter in the above chart, indicates short and soft sound, thus (D) is to be read as (The) and not D of Drum. Dash (-) indicates long and hard sound.
2. The Phonetic values of Type A alphabets in column 1 are obtained from suceeding columns.
3. Type A vowels are obtained from Wikipedia per authors Ventris and Chadwick.
   vowel for A is represented by II (2 strokes). In Indus Script A is and II in Type B.
4. Sounds of alphabets in Nagari marked by . below and obtained from National Encyclopedia, Georgia, U.S.A.
5. All the five columns above have a sub-column of Nagari Script of Indian Hindi which gives exact sound of the corresponding letter.

उपलब्ध हुई थी जब उन्होंने ग्रीस की मुख्यभूमि पर स्थित 'मायसिनी' नगर पर हमला किया था। मायसिनी जीतने के बाद ग्रीक जनजाती के आदिम लोग 'क्रिट' द्वीप पर पहुंच गए और वहां के अत्यंत विकसित और वैभवशाली सिंधु लोगों के वंशजों का नगर 'नॉसस' भी लूट लिया। वहां का राजा मिनॉस शायद अन्य द्वीपों पर भाग गया होगा। इसी द्वीप की सभ्यता व लिपि सिंधु सभ्यता व लिपि के समान ही थी।

This Epigraph of the era B.C. 3000-1100, of Crete-Greek Script to be read with the help of the Chart on page 4.
ई.पूर्व ३०००-११०० साल की क्रिट-ग्रीक लिपि 'ए' टाइप, का यह लेख पृष्ठ क्र. ४ के चार्ट से पढ़ना है।

Source : Book of Cartelli G.P.- 1945, PP 422, 610
Seal found at Arkhanais (Crete/Mycenea); Redrawn

Chart No. 3

उस लिपि को प्रस्तुत आलेख में पढ़कर बताया गया है ताकि ग्रीक लिपि का तथा युरोप की अन्य लिपियों के स्रोत का पता चले। उसके पहले इस सभ्यता के वैभव की (ई.पू.३६०० में) और युरोप के विकास में उसके योगदान की चर्चा करे।

सिंधु सभ्यता से लाभान्वित होनेवाले युरोप के देशों में ग्रीस का क्रमांक पहला है। उसको यह फायदा भूमध्य सागर में स्थित क्रिट द्वीप की **सिंधु सभ्यता** से ही हुआ है। एक अनुमान के अनुसार भारत से (उस वक्त का नाम सिंधुठाण) सिंधु सभ्यता भारतीय व्यापारियों ने ई.पू ७००० से ५००० के काल में सुमेरिया में (इराक का प्राचीन नाम) और वहां से भूमध्य सागर के क्रिट द्वीप में (आज के तुर्कस्थान के मार्ग से या सिरीया के मार्ग से) पहुंचाई थी। इन दोनो देशों में भारतीयों की स्थाई बस्तियां (colony) थीं। शायद इसी कारण से सिंधु नगरों के जलाए हुए नगरों के अवशेषों में 'मिडीटरियन' टाईप की (लंबा सिर) खोपडियां ज्यादा पाई गई है (Marshal : Indus Civilization, vol. I - pp 107-109)। देखे नकशा पृष्ठ क्र. ३ पर।

क्रीट द्वीप पर पाई गई यह सभ्यता सुमेरिया (इराक) और हडप्पा-मोहेंजोदारो की सभ्यता की समकालीन थी। ग्रीक कबीलों ने ई.पू. २००० में आज की ग्रीक भूमिपर स्थित **मायसिनी नगर**, क्रिट द्वीप पर स्थित **नॉसस नगर, टिरिंस नगर** और इजियन समुद्र के किनारे पर बसे प्रसिद्ध **ट्रॉय** तथा अन्य नगर राज्यों पर हमले करके उन्हें नष्ट कर दिया था।

क्रिट द्वीप के राजा मिनॉस के नॉसस नगर में सिंधु सभ्यता के सभी लक्षण पाए जाते है; जैसे : एक भव्य प्रासाद, उसमें भूमिगत ड्रेनेज, ऊँचे दर्जे के चीनी मिट्टी

के बर्तन, जिनपर सुंदर नक्काशी एवं भूमितीय आकृतियां थी, हीरे, रत्न, अल्बास्टर पत्थर पर माणिक जड़ित चीजें, सोने के बड़े बड़े पात्र एवं अनगिनत जेवरात, सिंधु लिपि के समान लिपि वाली अनेक मुद्राएं, टिकियाँ। हस्तिदंत और सोने का एक नाग देवता का पुतला तो इतना सुंदर है कि आज की फॅशन के अनुरुप लगे; जैसे तंग पैमाने का उरोज प्रावरण, सोने का कमरबंद, पांच मोडोवाला (प्लेटों) स्कर्ट।

मायसिनी और टिरीन्स नगर (ई.पू.१६००-१२०० के) ग्रीक की मुख्य भूमि पर है। यहां तो महल के भूतल के नीचे के कमरे सोने से खचाखच भरे हुए मिले। जेवरातों में सोने की मुद्राएं, कंठहार, सोने के तारों से बुना हुआ कपडा यह सब मुल्यवान चीजें बहुत बडी संख्या में मिली थी। इसलिए इन नगरों की रक्षा के लिए हडप्पा, मोहेंजोदारो के समान पत्थरों के परकोटे की घेराबंदी थी।

सुप्रसिद्ध ट्रॉय का शहर तो होमर ने अपने 'इलियड' नाम के महाकाव्य में अजरामर किया है। उस शहर को जीतने के लिए ग्रीकों ने दस साल तक घेरा डाल कर रखा था।

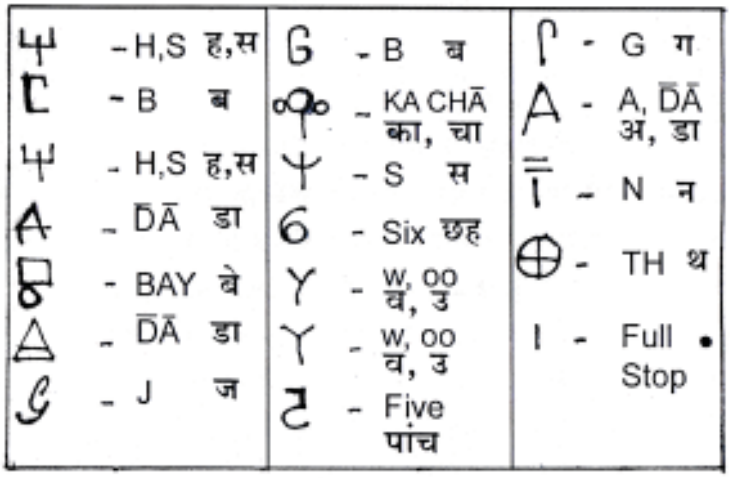

Chart No. 4

ई.पू. ३००० साल की क्रिट लिपि

मानव जाती के भौतिक प्रगती के लिए चक्के का जो योगदान है वही योगदान लिखाई का माध्यम 'लिपि' का भी है। लिपि से ही हम ज्ञान को संग्रहित करके हमारे वंशजों के सुपूर्द कर सके है। उससे हमारे समाज के बच्चे अपने मातापिता की तरक्की की आगे सुरूवात करते है। वैसा अन्य प्राणियों के बच्चों के साथ नहीं होता है। इस लिपि के खोजी भी भारत के (सिंधुठाण के)मुलनिवासी ही रहे है। हम भारतीयों ने ही उस को सुमेरिया और क्रिट द्वीप के उपनिवेशों के द्वारा पूरे अरब जगत में तथा युरोप में अतिप्राचीन काल में ही (ई.पू. ४५००-३०००) पहुंचाया था। क्रिट द्वीप की वह लिपि आज ग्रीक की पुरानी 'न पढी गई' लिपि कहलाती है। उसके सिंधु लिपि के तरह ही दो प्रकार है : लिनिअर A टाईप और लिनिअर B टाईप। आज जिस लिपि का उपयोग ग्रीक लोग करते हैं वह पुरानी लिपि से ही जन्मी परंतु काफी भिन्न लिपि है। आज हम क्रिट द्वीप की ई.पू.३०००-११०० के समय की लिनिअर A टाईप लिपि पढ़ने का प्रयास करेंगे। वही पूर्णतः अनछुई रह गई है। दूसरा प्रकार (लिनिअर B type) काफी हद तक पढ़ ली गई है। उसका काल है ई.पू. ११०० से ४०९।

इस संदर्भ में हमें लेखक डेव्हीड डिरींजर ने ६९ वर्ण (alphabets) उपलब्ध कराए है; देखें उनकी किताब 'Ancient People and Places, vol.25' इन वर्णों को ध्वनी देने के बाद का काम है कोई पुरातन लेख हम पढ़कर आजमाएं। उसके लिए लेखक कारटेल्ली जी.पी. ने उसकी किताब के (१९४५) पृष्ठ ४२२ और ६१० पर एक बडी मुद्रा (पुरालेख) तथा कुछ चित्रलिपि के 'आयडियोग्राम' दिए है। उसका चित्र पृष्ठ ५ पर देखे (प्रस्तुत आलेख

के)। उसी प्रकार से उपरनिर्दिष्ट ६९ वर्णों का चार्ट तथा उससे संबंधित अन्य लिपियों का एकत्र चार्ट पृष्ठ ४ पर देखे।

मुद्रावाचन

इसके लिए ऊपरोलिखित मुद्रा का वाचन सुलभ रुप नीचे दे रहे है। इससे दो दो या तीन तीन, क्रम से आनेवाले, वर्ण एकत्र चिपका के शब्द बनाएं और देखें वे शब्द कोई अर्थपूर्ण निकलते है क्या? और वे कौन सी भाषा के है? इसके लिए प्रयोग करके देखना पडेगा भारत की प्राचीन, मूलनिवासियों की भाषाओं का जैसेःमराठी ग्रामीण, सिंधी, जिप्सी, हिंदी, तमिल। विदेशी भाषाएं, जो क्रिट द्वीप के व्यापारियों को प्रभावित कर सकती है, वे है सुमेरियन, ई.पू. ४५००० की, प्राचीन अरबी, प्राचीन पर्सियन और मृत ग्रीक भाषा। विद्यमान ग्रीक, अंग्रेजी, फ्रेंच इनकी भी सहायता ली जा सकती है।

वाचन : ऊपर के चार्ट क्र.४ की मदद से ऊपर के चार्ट क्र. ३ के दो दो या तीन तीन वर्णों का, एक एक शब्द बनाएं, जैसे : हब (सब); हडा, (सडा), वेडा, जब, कास, चाय, छह, वऊ, व (ऊ), पांच, ग, अ, डा, न, थ (इस रेखा को पूर्ण विराम समझे)

इनसे दो दो वर्णों के शब्द बनाकर एक वाक्य बना सकते है। उसकी भाषा बाद में तय करे उदा. हब, हडा बेडा जब कास छह व पांच गअ गथ। (सूचना- इस वाक्य में जब, 'व' ये शब्द अरबी/पर्सियन/उर्दू है)....

इसी प्रकार से कोष्ठक में दर्शाए हुए पर्यायी उच्चारणों के शब्द बनाएं और जांचें। उसके बाद में तीन-तीन वर्णों के शब्द बनाएं जैसे : सबस डाबेडा जबका छहऊ व पांचग डानथ।

हमें लगता है कि इस पुरालेख की भाषा ऋग्वेद पूर्व भारतीय भाषा ही हो सकती है, जैसे :ई.पू.४५०० की मरहटी, ई.पूर्व क सिंधी, तमिल इत्यादि। अनेक विद्यार्थी/वाचक, इस विषय में, लगन से काम में जुट जाने से ही यश प्राप्त होगा। इस लिपि को पढ़ना मानवता के प्रति हमारा कर्तव्य है तथा भारतियों के लिए वह एक गौरव की बात होगी।

क्या-क्यों-कैसे?

सूचना-ज्ञान-विवेक के क्रम में सूचना सबसे निचले स्तर की बौद्धिक गतिविधि है और केवल सूचना के आधार पर सृजनात्मक और निर्णायक काम नहीं किया जा सकता। उसके लिए जरुरी होता है विश्लेषण-संश्लेषण, अध्ययन-चिंतन-मनन के आधार पर निर्मित ज्ञान जिसका इस्तेमाल सृजन और विवेक के लिए हो तो व्यक्ति और समाज आगे बढ़ते हैं।

जरा इतिहास में झांकिए। यह सारा काम समाज में थोड़े से लोग करते रहे हैं। भारत में नारियां और दलित तो इससे वंचित ही कर दिए गए। सवर्ण पुरुषों में भी सभी को अवसर नहीं मिल पाता था। ऐसी व्यवस्था में भी दुनिया ने पिछले तीन हजार वर्षों में, विशेषकर पिछले दो सौ वर्षों में जब से प्रगति में लोगों की भागीदारी बढ़ती गई है, अभूतपूर्व उन्नति की है। कल्पना करने पर रोमांच हो आता है कि अगर समाज के अधिकांश लोग अध्ययन-चिंतन-मनन-प्रयोग-निर्माण में लग जाएं तो क्या-क्या हो सकता है।

(साभार : जनवाद की अर्थवत्ता-लाल बहादुर वर्मा)

उपनिषद् पुनरीक्षण

–मुद्राराक्षस

''भारत ही नहीं विदेशों में भी ब्राह्मण संस्कृति के उपनिषदों की खासी चर्चा रही है। उपनिषदों में तत्त्व-चिंतन क्या और कैसा है उस चिन्तन का समाजशास्त्र किस विचार की तस्वीर देता है, यह देखना दिलचस्प है। यह विचित्र बात है कि उसमें तत्त्व-चिन्तन जैसी चीज के बजाय सिर्फ ब्राह्मणत्व गौरवान्वित करने के प्रयत्न ही प्रमुख हैं। हम यहाँ ब्राह्मणद्वारा सम्पदा अर्जित करने के अध्यात्म की पड़ताल भी करेंगे।''

उपनिषद् पुनरीक्षण

उपनिषदों पर एक बार नजर डालेंगे। ईशोपनिषद् बहुत प्रसिद्ध है। इसकी शुरुआत होती है- ईशावास्यम् इदं यत्किंच जगतँजगत् यानी सारी दुनिया में जो कुछ भी है वह ईश्वर का घर है।

यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि सम्पूर्ण ईशोपनिषद् स्वतंत्र रूप से नहीं लिखा गया है। वह यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय मात्र है। इसे उपनिषद् क्यों कहा गया, इसका कोई साफ तर्क कहीं नहीं है। जब यह वेदांश है तो इसे उपनिषद् नहीं वेदांश ही कहना चाहिए था।

खैर, इस उपनिषद् में आश्चर्यजनक रूप से ईश्वर की वह अवधारणा है जिसने एक ओर अद्वैत का विकास किया तो दूसरी ओर भक्ति आंदोलन की भी पृष्ठभूमि तैयार की। हमने ऊपर कहा था कि उपनिषदों में उस काल का वैचारिक काम है जब ब्राह्मण भारतीय कुलीन समुदाय और ब्राह्मणों के तार्किक बुद्धिजीवी ब्राह्मण-संस्कृति पर सवालिया निशान लगा रहे थे। ईशोपनिषद् में अपेक्षाकृत विकसित विचारदृष्टि मौजूद मिलती है। पर यह यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। यजुर्वेद स्वयं देवोपासना अर्चना का ही ग्रंथ है और उपासना-अर्चना का चरित्र अनिवार्यतः द्वैतवादी होता है। उपास्य और उपासक में भेद-उपासना कर्म में जरूरी होता है। इसलिए अगर चालीसवें अध्याय को यजुर्वेद का ही हिस्सा माना जाय तो उक्त अध्याय को वेदान्त की अवधारणाओं से अलग मानना होगा और अगर हम उस अंश को वेदान्त से जोड़कर देखें तो निश्चय ही इसे यजुर्वेद में प्रक्षेप की तरह देखना होगा। वैसे यह संभावना ही ज्यादा लगती है कि किसी समय समूचा ईशोपनिषद् चालीसवाँ अध्याय बनाकर यजुर्वेद में डाल दिया गया। इसका एक आश्चर्यजनक प्रमाण भी मिलता है, जिसका जिक्र हम पहले कर चुके हैं। यजुर्वेद का अंतिम मंत्र है हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम। यो असौ आदित्ये पुरुषः सो असौ अहम्।

पर ईशोपनिषद् में अगर यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय की ऋचाएँ हैं तो उनमें कुछ अंश ऐसे हैं जो यजुर्वेद में नहीं हैं। या तो उपनिषदकार ने उन्हें अपनी तरफ से जोड़ा है या फिर यजुर्वेद में ईशोपनिषद् शामिल करते समय यह अंश छोड़ दिया गया है। अंश यह है- पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन समूह तेजो यते रूपं कन्याणतमं तत्ते पश्यामि।

यजुर्वेद में यह क्यों छोड़ा गया लगा, इसे देखने की कोशिश हम करेंगे। इसका अर्थ है-यह सबके पालक सूर्य अपनी किरणों को समेटो, तेज को एकत्र कर लो ताकि तुम्हें देख सकूँ।

यह अंश निश्चय ही अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध है, पर इसमें कुछ और भी छिपा हुआ है। इस वक्तव्य के साथ हिरण्येन पात्रेण को भी याद रखना चाहिए इस श्लोक का अर्थ है-सत्य का मुँह सोने के ढक्कन से ढका है। मेरे लिए तुम उस आवरण को हटा दो।

इस संदर्भ में हम प्राचीन बाइबल से कुछ तथ्य देना चाहेंगे। इस अंश का संबंध मूसा से है। निर्गमन (एक्सोडस) २५:१७-२२ में यहवेह या येहोवा (या संस्कृत यह्वः) कहता है, तुम एक संदूक बनवाना

जिसके ऊपर सोने का ढक्कन हो। मैं जो साक्षी पत्र दूँगा उसे उसके अन्दर रखना।

ईशोपनिषद् में लिखा गया–सत्य का मुँह सोने के ढकने से ढका हुआ है। अगली पंक्ति, जो यजुर्वेद में नहीं है, कहती है कि मैं सत्य देखना चाहता हूँ। मेरे लिए तुम (सोने का) ढक्कन हटाओ।

ईशोपनिषद् का यह पन्द्रहवाँ श्लोक हू–ब–हू प्राचीन बाइबल के निर्गमन २५ की पुनरावृत्ति है और चूँकि इसका संबंध मूसा से है, इसलिए मीडियनों (या माध्यन्दिनों!) की स्मृति में ज्यों–का–त्यों भारत आ गया। पर जो हिस्सा यजुर्वेद में छोड़ दिया गया है, उसमें प्राचीन बाइबल के एक कथ्य की पुनरावृत्ति है। मूसा द्वारा येहोवा को देखे जाने का वर्णन बहुत विस्तृत है और इसमें येहोवा इतनी तेज आग और चमक की तरह होता है कि उसे देख पाना कठिन है। वह पहाड़ की चट्टान तक जला देता है। ईशोपनिषद् में इसी की स्मृति है और याचक प्रार्थना करता है कि तू अपनी चमक समेट ले ताकि तुझे देख सकूँ। इस स्मृति को दबा देने की कोशिश में ही जब ईशोपनिषद् यजुर्वेद में शामिल किया गया होगा, उक्त अंश छोड़ दिया गया होगा। हिरण्यमेन पात्रेण–सोने के ढक्कन से ढका सच वाला अंश यजुर्वेद में शामिल करने के बाद चमकीली अग्निमयी किरणों की आड़ में छिपी दिव्य सत्ता का अंश लेने पर आशंका हुई होगी कि मूसा और येहोवा का प्रसंग ज्यादा उजागर हो जायेगा। ईशोपनिषद् का बाकी हिस्सा शामिल करने के पीछे जो बाध्यता रही होगी, वह समझना कठिन नहीं है।

इस किताब का तीसरा श्लोक सीधे असुरों (असीरियों) का उल्लेख करता है। यह वही विशाल भूभाग है जिसके पश्चिमी क्षेत्र में मूसा यहोवा से संवाद करते हैं और सोने के ढक्कन से यहोवा के कथन को ढककर रखते हैं। संयोग से उस असीरियाई इलाके की एक छोटी किन्तु ऐतिहासिक तस्वीर उक्त श्लोक ३ में मिलती हें– असुर के नाम का वह लोक अँधेरे में ढका हुआ है। वहाँ प्रेत जाते हैं। वह आत्महत्या करते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् (८.८.५) के उस अंश को यहाँ याद करना होगा, जिसमें मुर्दों को मसालों, कपड़ों, जेवरों में लपेटकर रखने का जिक्र है। ईशोपनिषद् का श्लोक ३ भी ठीक उसी स्थिति के एक और पहलू का जिक्र करता है। ऊर (अब्राहम की जन्मभूमि) में पुरातत्त्ववेत्ताओं ने जो खुदाइयाँ कीं उनमें छान्दोग्य और ईशोपनिषद् के पिपीएरें की स्पष्ट गवाही मिलती है। मिस्र के उत्खनन में पुरातत्त्वेत्ताओं ने हजारों साल पुरानी ममियाँ ठीक उसी तरह खोजीं जैसी छान्दोग्य में वर्णित हैं। ऊर में लियोनाई वूली ने जो उत्खनन किए, उनमें दफनाए हुए शवों के साथ बड़ी संख्या में मृतक के सम्मान के लिए जीवित ही अपने आपको दफन करा लेने वालों के शव मिले। वहाँ कीलाक्षरों में लिखी मिट्टी की जो पट्टियाँ मिलीं उन पर लिखा था– ''भाग्य के बिछौन पर वह लेटा है। वह उठेगा नहीं। जो खड़े हैं, जो बैठे हैं, वे खामोश नहीं हैं, वे स्यापा कर रहे हैं। उसकी प्रिय प्रेमिका, उसके दरबारी संगीतकार, उसका मनोरंजन करने वाला, उसका प्रमुख खानसामा, उसके परिवारजन, महल के सेवक, उसका प्रिय प्रबंधक, जो भी थे वह उसके साथ लेटे हैं।''

यहाँ हम ऊपर चिह्नित मध्यपश्चिमी और दक्षिण एशियाई उस सांस्कृतिक महासागर के भारतीय देशों तक फैले इसी अँधविश्वास के उद्धरण देना चाहेंगे। ये न विदेश से भारत आए न भारत से विदेश गए। यह रिवाज (कुलीन की मृत्यु के बाद निष्ठावानों की आत्महत्या) सांस्कृतिक महासागर का ही हिस्सा थी।

पति की मृत्यू के बाद विधवा का जलकर मर जाना भारत में संभवतः ब्राह्मण काल की देन है, पर सुखासीन के मरने पर वर्तमान अरब क्षेत्र के ऊर में प्रचलित परंपरा भारत के उस भूभाग में ज्यों–की–त्यों मिलती है जो सांस्कृतिक महासागर का हिस्सा था। बाण ने हर्षचरितम् में लिखा है कि प्रभाकरवर्धन की

मृत्यु पर उसके कितने ही मित्रों, मंत्रियों, दासों तथा अन्य प्रियजनों ने उसके साथ आत्महत्या की। वूजी द्वारा ऊर की कब्रों की स्थिति हू-ब-हू यही थी। राजतरंगिणी में आया है कि कुलीन पुरुष के मरने के बाद उसकी रानी, उसका आसन बिछाने वाला, कुछ दूसरे दरबारी तथा तीन दासियों ने उसी के साथ आत्महत्या की।

पुरातत्त्ववेत्ता वूली के ऊर के उत्खनन में राजपुरुष के साथ दफन होने वाले दास-दासियों के दर्दनाक चित्र दिखाए हैं। उस समय ऊर में लड़कियाँ सिर में एक धातु की पट्टी बालों को रोक रखने के लिए लगाती थीं, जिसे वे एक डिब्बी में रखा करती थीं। जल्दी में एक लड़की धातु की पट्टी सिर में लगा नहीं सकी, डिब्बी उसके हाथ में ही दबी थी। कुलीन के प्रति भक्ति की यह परंपरा निश्चय ही गैर-ब्राह्मण परंपरा है, पर ब्राह्मणों ने इसे संशोधित रूप में स्वीकार किया सहमरण या सहगमन की भारतीय अर्थ परंपरा में ब्राह्मणों ने यह संशोधन कर लिया कि ब्राह्मण पत्नी पति के साथ नहीं मरेगी यानी जिनमें यह प्रथा थी, उनमें ही बनी रहेगी। वसुदेव की चार पत्नियाँ-देवकी, भद्रा, रोहिणी, मंदिरा के पति के साथ जकर आत्महत्या की थी। कृष्ण की पत्नियों में से रुक्मिणी, शैव्या, हेमवती और जाम्बवती ने कृष्ण की मृत्यु के बाद आत्महत्या की थी। विष्णु पुराण (५.३८.२) के अनुसार, कृष्ण की आठ रानियों ने आत्महत्या कर ली थी।

पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इस दहलाने वाली परम्परा के प्रमाण खोजे, जिसमें राजपुरुष की मृत्यु होने के बाद उसकी प्रेमिकाओं सहित दास-दासी आदि जिन्दा दफन किए जाते थे। ईशोपनिषद् के तीसरे श्लोक में बड़ी बारीकी से इसी प्रथा का ब्यौरा दिया गया है। भारत में इस प्रथा ने सती-प्रथा के रूप में एक भयावह समाज-व्यवस्था का रूप ले लिया, जिसने लगभग तीन सहस्राब्दि स्त्रियों को भयावह यातनाऐं दीं। सती पर कई अभिलेख प्राप्त हुए हैं, पर जहाँ-जहाँ ये अभिलेख मिले हैं, वह उत्तरी श्लोक के हैं जो सांस्कृतिक महासागर का अनिवार्य और महत्वपूर्ण हिस्सा था।

सांस्कृतिक महासागर के भारतीय भूभाग में ब्राह्मण बहुत बाद में आए, लगभग १५०० वर्ष ईसापूर्व। उनमें वे कई महत्त्वपूर्ण प्रथाएँ नहीं थीं जो यहाँ के आर्यों में थी, उन्हीं में से एक सहमरण भी थी। ब्राह्मणों ने इसको धर्मविधान बनाने की कोशिश भी की थी, पर यह भी सच है कि उनके ब्राह्मण विचारक भी इससे सहमत नहीं थे। धर्मसूत्र के विख्यात भाष्यकार मेघातिथि सती-प्रथा का पूरी तरह निषेध करतें हैं। वे मानते हैं कि यह आत्महत्या है और वर्जित है। उन्होंने इसकी तुलना श्येनयाग से की है। श्येनयाग वह तांत्रिक प्रक्रिया थी, जिसके द्वारा लोग शत्रु को काला जादू करके मार डालते हैं। मेघातिथि साधारण ब्राह्मण विचारक नहीं थे और विचारों से प्रगतिशील भी नहीं लगते, पर उन्हें यह प्रथा निश्चय ही कहीं अमानवीय लगी होगी।

अब एक बार फिर उपनिषद् का अंतरंग देखने की कोशिश हम करेंगे। ईशोपनिषद् का श्लोक १८ बहुत प्रसिद्ध है-अग्ने नय सुपथा राये अस्मान-अक्सर उपासक लोग कहते हैं-वेदों में कितनी अच्छी प्रार्थना है-हे अग्नि! अच्छे रास्ते हमें ले चलो। यह बेहद भ्रामक अर्थ है। वस्तुतः अग्नि देवता से कहा गया है कि ऐसे उत्तम रास्ते से ले चलो जिससे खूब धन प्राप्त हो सके-सुपथा राये यानी धन तक पहुँचाने वाला रास्ता। यास्क ने राय का अर्थ धन ही किया है। शंकराचार्य ने भी अपने भाष्य में राये का यही अर्थ किया है-राये धनाय कर्मफलभोगायेत्यर्थः। हमें अच्छी राह दिखाओ जैसा कुपाठ तो जानबूझकर ही किया गया है। यह श्लोक १८ उपनिषद् का अंतिम छंद है। पर इस बीच जो कुछ है वह भी बहुत उद्धृत हुआ है और किसी कदर गीता का भी आधार है।

श्लोक ६ का कथ्य है जो सब वस्तुओं को अपने आप में देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता।

अगले श्लोक में इसी का और विस्तार दिया गया है कि ऐसा व्यक्ति मोह और शोक से मुक्त हो जाता है। श्लोक ८ चारों वेदों के बाद विकसित अवधारणा पेश करता है, जिसमें परमशक्ति को स्पष्टतः अशरीरी अपने आप हुआ और शाश्वत कहा गया है, पर यह भी अद्वैत वेदान्त की सीमा से बाहर की अभिव्यक्ति है। इसमें काफी महत्त्वपूर्ण हैं ९ से १२ तक के श्लोक! जो एकेश्वरवाद ऋग्वेद में कभी साफ नहीं हो पाता, उसे ये श्लोक एक तार्किक आधार देने की कोशिश करते हैं। इनका मुहावरा भी बौद्धिक विकास की झलक देता है। इनमें विद्या-अविद्या और संभूति-असंभुति के युग्म हैं। अविद्या सांसारिकता के लिए है और असंभूति भी सांसारिकता के लिए ही आया है। कहा गया है कि अविद्या से दुनियादार का काम चलता है, विद्या से अमरत्व मिलता है। यही असंभूति और संभूति के बारे में भी कहा गया है। पर निश्चय ही यह अव्यक्त ब्रह्मज्ञान से भिन्न है और अद्वैत वेदान्त तो नहीं ही है। बल्कि बहुत हद तक यह बौद्ध चिन्तन के करीब है। शायद रुढ़िवादी ब्राह्मणों द्वारा उपनिषद् नापसंद किए जाने के कारणों में से यह भी हो।

केनोपनिषद् का ताना-बाना बहुत दिलचस्प है। वह एक उम्दा बौद्धिकता से शुरू होता है, आंशिक रूप से ब्रह्मज्ञान स्पष्ट करने की कोशिश भी करता है, पर अंत में ब्राह्मण कर्मकाण्ड की प्रतिष्ठा को ही सब-कुछ मानकर बात समाप्त कर देता है।

इसका प्रारंभ गुरु से शिष्य की जिज्ञासा से होता है-केनएषितं पतति प्रेषितं मनः केनप्राणः प्रथमः प्रैतियुक्तः। केनेषिषां वाचमियाँ वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनाक्ति। यानी यह मन कौन चलाता है। प्राण को प्रेरित कौन करता है। जिसकी प्रेरणा से वाणी निकलती है। आँख और कान को कौन देवता संचालित करता है।

इस मासूम-सी जिज्ञासा के उत्तर में कहा गया है-जो सुनने का आधार है, प्राणों का प्राण है, मन का भी मन है, आँखों की भी आँख है, मरने के बाद वही अमरता होता है।

केनोपनिषद् की जिज्ञासाओं के और अधिक विवरणों से पहले हम यहाँ मिश्र की एक प्राचीन पाण्डुलिपि का उल्लेख करना चाहेंगे। यह आज से लगभग साढ़े पाँच हजार साल पुरानी है, जिसका अनुवाद सैक्रेड बुक्स ऑफ दि वर्ल्ड में (पृष्ठ ५९-६०) दिया है-ऐसा हुआ कि मन और वाणी ने हर किसी के ऊपर शक्ति पाई। वह सभी के हृदय में था वाणी के रुप में हर मुँह में, सभी देवताओं, मनुष्यों, प्राणियों, सभी जीवित जन्तुओं में। जब वह सोचता है, जब वह आदेश करता है जो कुछ वह चाहता है... उसने सभी देवों को उत्पन्न किया... उसने सारे अन्न बनाए, सारी बालियाँ, इसी शब्द से-इत्यादि।

लगभग ऐसी ही जिज्ञासा से केनोपनिषद् शुरू होता है और आगे कहता है कि जो आँख से दीखता नहीं बल्कि जो खुद देखता है, जो प्राणों से प्राणित नहीं होता, जिससे प्राण प्रणित होते हैं, जिसे वाणी नहीं कहती बल्कि जो खुद वाणी है, उस तक न वाणी पहुँचती है न दृष्टि उसे ब्रह्म जानो। निश्चय ही मिस्र की पाण्डुलिपि के कथ्य का यह अधिक विकसित रूप कहा जा सकता है। पर सहसा यह सारा दर्शन ब्राह्मण प्रतिष्ठा में तब्दील हो जाता है-यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रम् एवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्राह्मणो रूपम् यानी अगर तू कहता है कि तू जानता है तब तू ब्राह्मण के रूप को बहुत-थोड़ा जानता है।

यहाँ उपनिषदकार फिर ब्रह्म का नाम लेते-लेते सहसा उसे ब्राह्मण में रुपान्तरित कर देता है। उपनिषदकार अनेक दार्शनिक से लगते बयानों के बावजूद अन्ततः ब्रह्म को ब्राह्मण ही मान रहा है, यह बात रेखांकित करने के लिए श्लोक १४ में बाकायदा कहा-ब्रह्म देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ब्राह्मणे विजये देवा यानी देवताओं की लड़ाई में जिस ब्रह्म ने विजय दिलाई वह ब्राह्मण ही था। यह एक बहुत सीधा-सा ब्राह्मण प्रशक्ति का

बयान है।

मुण्डकोपनिषद् के तृतीय मुण्डक के पहले खण्ड के श्लोक १० को देखें–यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धं सत्त्वः कामयते याँश्च कामान्। तं तं लोक जयते तांश्च कामांस्तस्माद् आत्मज्ञं हि अर्चयेत् भूति कामः। यानी शुद्ध अन्तःकरण वाला इस दुनिया को यह मेरे लिए, यह दूसरे के लिए हो, ऐसा सोचता है, वह वही सब सोचते ही पा जाता है। इसलिए ऐश्वर्य की इच्छा करने वाला व्यक्ति को चाहिए कि शुद्ध अन्तःकरण वाले आत्मज्ञानी का सत्कार करे।

सभी ब्राह्मण ग्रंथ या ब्राह्मणों की किताबें आत्मज्ञानी या ब्रह्मज्ञानी को ब्राह्मण जातीय व्यक्ति मानती हैं। ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान के रुप में वे ब्राह्मण की पूजा की प्रतिष्ठा करती हैं। उक्त मुण्डक का भी एकमात्र कथ्य यही है। यह विचित्र बात है कि इतिहासकार या अध्येता ने उपनिषदों का जिक्र करते हुए अध्यात्म ब्रह्मज्ञान और दर्शन–चिन्ता का भंडार तो देखा, यह कभी नहीं देखा कि उपनिषदों का बयान बड़े बौद्धिक उत्साह के बावजूद ब्राह्मण पूजा या ब्राह्मण श्रेष्ठता पर ही समाप्त होता रहा है।

यह भी दिलचस्प है कि बौद्धिकता के उत्साह में अक्सर एक–दूसरे की विरोधी बातें भी कही गईं। बृहदारण्यक उपनिषद् (१–१) में लिखा गया है कि आत्मा वा इदमेक एवाग्र असीन्नान्यत्किंचन मिषत् यानी आरंभ में एक आत्मा मात्र ही थी और कुछ नहीं था। पर छान्दोग्य (६–१,१) में आया है–शुरू में एक अकेला सत् था और कुछ नहीं।

पर इस अर्धदार्शनिकता के पीछे भी वैचारिक चिन्ता न होकर बाह्मणत्व को गौरवान्वित करना उद्दिष्ट था। मुण्डक अन्त तक आते–जाते ब्रह्मज्ञान के बजाय ब्रह्मधाम, ब्रह्म के आवास की चर्चा करने लगता है। श्लोक ८ में एक अच्छी कविता दी जाती है कि जैसे नदियाँ समुद्र में मिलकर अपना नाम, रूप खो देती हैं वैसे ही परातार पुरुष में लीन हो जाता है, विद्वान। निश्चय ही यह गीता के विचारों की बुनियाद है, पर अद्वैत की नहीं।

तार्किक ब्राह्मण द्वारा समर्पण क्यों

उपनिषदों के लेखक बहुत हद तक ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड की आलोचना करते रहे, लेकिन उनके विरुद्ध खड़े नहीं हुएँ वे ज्यादातर इस बात की कोशिश करते रहे कि कर्मकाण्ड और वेदों की आलोचना निर्णायक अलगाव का कारण न बने। इसलिए आर्यों की तार्किकता के समानान्तर चलते हुए उन्होंने वेदों और कर्मकाण्डों की जो आलोचना की, उसे भी ब्राह्मण पक्षधरता का जामा पहना दिया। ब्रह्मज्ञान और परमशक्ति का भाष्य करते हुए भी वे बार–बार दुहरा देते थे कि ब्राह्मण ही ब्रह्म है और वही परमशक्ति है। ब्रह्मज्ञान सबसे बड़ा है, यह बताते हुए भी अक्सर वे यह सीख देते रहे कि यज्ञों के कर्मकाण्ड के बिना कुछ नहीं होता।

संभवतः इसके पीछे तार्किक ब्राह्मण की सबसे बड़ी मजबूरी आर्थिक थी। हम जिक्र कर चुके हैं कि वेदों और यज्ञों को निरर्थक बताने वाले कवष ऐलूष सरस्वती तट पर होने वाले यज्ञ में शामिल होना चाहते थे। पर वहाँ ब्राह्मणों ने उन्हें निन्दित किया और यज्ञ से बाहर कर दिया था। कवष यज्ञों के आलोचक थे, पर रोजी के लिए यज्ञ में शामिल होने गए होंगे। याज्ञिकों को भारी दक्षिणा मिलती थी। वह दक्षिणा कवष की भी जरूरत रही होगी। जो ब्राह्मण वेद और यज्ञ की आलोचना करता होगा, निश्चय ही ब्राह्मण उसे दक्षिणा से वंचित करते होंगे।

ब्राह्मण समुदाय में एक शब्द प्राचीन काल से चलता आ रहा है–पंक्तिपावन ब्राह्मण मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में निन्दित ब्राह्मणों की बहुत लंबी सूची है (३, १४९–१६९) और इस सूची में नास्तिक और वेदनिन्दक ब्राह्मण तो शामिल ही हैं, परिश्रम के अनेक काम करने वाला ब्राह्मण भी शामिल है। इन्हें पंक्तिबाह्य ब्राह्मण कहा गया है यानी ऐसा ब्राह्मण जो बाह्मण

जमात में नहीं रह सकता और इस तरह जमात में रहने के अनेक लाभों से वंचित रहता है। अपाङ्तदाने या दातुर्भवत्यूध्यर्वं फलोदयः। दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः यानी पाँत से बाहर किए गए को देवों और पितरों के हव्यकव्य देने वाले के साथ जो होता है वह बताता हूँ।

अगले श्लोक में कहा है कि पाँत से बाहर किए ब्राह्मण को खाना खिलाने वाला राक्षसी भोज करता है। आगे नरक में जाने का भी जिक्र है। पंक्तिपावन ब्राह्मण वेदभक्त कहा गया है। जाहिर है तार्किक होने की कोशिश करने वाला ब्राह्मण हर हालत में पंक्तिबाह्य होने से डरता होगा।

समाजशास्त्री थर्स्टीन वेल्बेन ने अपनी किताब 'द थियरी ऑफ द लेजर क्लास' की भूमिका में भारत को ब्राह्मण भारत के रूप में याद किया है और भारत में अनुत्पादक वर्ग की संज्ञा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही दी है। वेब्लेन की बात भारत के संदर्भ में बहुत सही है क्योंकि सारे ही धर्मग्रंथों में ब्राह्मण के लिए किसी भी तरह का उत्पादन का काम न सिर्फ वर्जित माना गया है बल्कि दण्डनीय भी कहा गया है।

वेल्बेन के लेजरक्लास या सुखासीन होने की सारी शर्तें ब्राह्मण पूरी करता है, पर दो बातें और विशिष्ट हैं। पहली बात यह कि ब्राह कमण जन्मजात सुखासीन होता है और दूसरी बात यह कि धर्मादेश के आधार पर सुखासीन रहना ही होता है।

लेकिन इस ब्राह्मणनाम के लेजर क्लास में एक और पेंच है। वह भारतीय आर्यों (लेजर क्लास) से भिन्न है। भारत के आर्य या क्षत्रिय और व्यापारी कलाओं और औद्योगिक उत्पादन से परहेज नहीं करते थे। शिल्पियों की श्रेणी-संस्थाओं के मुख्य लोगों को बाकायदा राजदरबारों में आमंत्रित किया जाता था और उनसे सलाह-मशविरा भी किया जाता था। इस तरह से उत्पादन का लाभ अर्जित करने वाला सुखासीन, उत्पादन कर्मियों के साथ सामाजिक गैर-बराबरी का व्यवहार नहीं करता था। वह सिर्फ आर्थिक गैर-ब्राबरी ही बरतता था।

पर ब्राह्मण अनुत्पादक क्लास सामाजिक गैर-बराबरी भी बरतता था और यही वजह है कि उसने गैर-बराबरी को धार्मिक व्यवस्था बनाया। ब्राह्मणों के प्रभावों से बाहर **भारतीय उपमहाद्वीप के बहुत बड़ी संख्या में ऐसे देश थे जहाँ वेदों से लेकर बुद्धकाल तक ब्राह्मण-व्यवस्था लागू नहीं थी और यही वजह है कि इन सभी देशों में शूद्र नहीं थे।** वहाँ सुखासीन थे या शिल्पी-कामगार। जहाँ-जहाँ ब्राह्मण का प्रभुत्व होता गया, शिल्पी कामगार शूद्र घोषित होते गए। इसका अध्ययन हम अलग से करेंगे।

यहाँ हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि सुखासीन ब्राह्मण किस तरह का आर्थिक शोषण करता था। निश्चय ही ब्राह्मण के भारत आने से पहले भारतीय आर्य (या लेजर क्लास) अनार्य या अनाड़ी (पृथग्जन) का आर्थिक शोषण करता था। अनार्य यानी शिल्पी-कामगार की बनाई वस्तुओं को बड़े पैमाने पर खरीदकर देश-विदेश में बेचते हुए मुनाफा कमाता था और मुनाफे को अपने और सामन्त के बीच बाँट लेता था। इस तरह वह अतुलनीय सम्पत्ति अर्जित करता था, पर वह पृथग्जन को घृणित और नीच जाति नहीं मानता था। तभी यह भी संभव होता था कि शिल्पी सत्ता तक भी पहुँचता था और उसे कोई नहीं कहता था कि शूद्र राजा हो गया।

सामन्त और व्यापारी जिस तरह का जीवन बिताते थे उसके अनेक चित्र संस्कृत के साहित्यिक-सांस्कृतिक ग्रंथों में मिलते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप के देशों पर ब्राह्मण का पुरोहित या मंत्री के रूप में प्रभुत्व हो जाने के बावजूद इस सुखासीन समुदाय की जीवन पद्धति पर कोई असर दिखाई नहीं देता है। वात्स्यायन के कामसूत्र में नागरिकों की जीवन चर्चा दिखाई गई है, उसमें किसी तरह की अतिरंजना नहीं है। चौथे अध्याय के ये विवरण देखे जाने चाहिए-नागरिक का निवास-

स्थान किसी जलाशय के पास होना चाहिए और उसमें कई कमरे अलग-अलग कामों के लिए होने चाहिए घर के चारों तरह एक बाग हो, जिसमें रंगबिरंगे सुन्दर फूल, बेलें और उत्तम घास उगी हो। ...इस बैठक में सुंदर पलँग हो, मुलायम गद्दा हो, बेल बूटों वाली उज्ज्वल चादर हो। सिरहाने पायताने सुंदर तकिए हों। पलँग के पास ही संभोग लीला के लिए एक छोटा पलँग भी होना चाहिए... एक छोटी-सी मेज पर संभोग के जरूरी सामान जैसे सुगंधित लेप, फूलमालाएँ, मोम के रंगीन बर्तन, अनाज के छिलके, पान वगैरह... कमरे में वीणा... हाथी दाँत की खूँटियों पर मालाएँ... चौपड़ और शतरंज... स्नानादि नित्य क्रियाओं से निबटकर शरीर को इत्र से सुगंधित करे... फूलों के हार पहने, बाल सँवारे... धूप में न घूमे... सुबह के भोजन के बाद अपने पालतू पक्षियों से मनोरंजन करे... मूर्गों, भेड़ों की लड़ाई का आनंद ले... शाम को मित्रों के साथ विहार करे, साहित्यिक चर्चा करे, आसव पिए... जलक्रीड़ा करे... संगीत का आनंद ले... मित्रों के साथ बैठकर प्रेमिका के आने की प्रतीक्षा करें...।

जाहिर है ऐसी दिनचर्या खासी खर्चीली होती है। सुखासीन के पास दो चीजें इफरात होती होंगी, अपार धन और पर्याप्त आवश या फुर्सत। छान्दोग्य उपनिषद् में, आर्य सुखासीन ही नहीं, उन्हें अपने वश में करके अपना प्रभुत्व स्थापित करने वाले ब्राह्मण की सुखासीनता का भी एक विवरण ध्यान देने योग्य है।

वेब्लेन ने तो ब्राह्मण को सिर्फ इसलिए सुखासीन कहा कि वह कोई उत्पादक काम नहीं करता, पर वेब्लेन को यह नहीं मालूम होगा कि काम न करने वाला यह ब्राह्मण समुदाय समृद्धि में कितना आगे था। छान्दोग्य (४.२.५) में ऋषि रैक्व के पास छह सौ गायें, सोना, जवाहरात, रथ और बहुत-सा धन लेकर गए। ऋषि ने इनकार कर दिया। तब राजा दुबारा एक हजार गायें, अधिक धन, जहाँ ऋषि रहता था उस ग्राम की सारी जमीन की मिल्कियत और अपनी सुन्दर कन्या को भेंट में देने ले गया। रैक्व ने कहा- इस सुन्दर कन्या का मुँह देखकर यह स्वीकार करता हूँ। जाहिर है ऐसे पुरोहितों के पास अपार सम्पत्ति भी होती थी और पर्याप्त फुर्सत भी। जो किसान था, लोहार, बुनकर, बढ़ई, तेली, कुम्हार था, उसके पास कामसूत्र में वर्णित नागरिक की जीवनचर्या के लिए न तो पर्याप्त धन होता था और न पर्याप्त फुर्सत। वह फुर्सत में रहे और पर्याप्त से कहीं ज्यादा समृद्धि भी उसके पास हो, इसके लिए ब्राह्मण ने परिश्रम और उत्पादन के हर काम को अपने लिए वर्जित बताया और दान-दक्षिणा पर निर्भर रहने का विधान किया दान-दक्षिणा ऊपरी तौर पर बहुत मासूम और छोटी-सी चीज लगती है, पर ब्राह्मणतंत्र में वह अपार सम्पत्ति संग्रह का साधन थी। ब्राह्मण काव्यग्रंथों में राजाओं द्वारा यज्ञ के समय ब्राह्मणों को दिए जाने वाले दान की चर्चा है। महाभारत के सभापर्व के पैंतालीसवें अध्याय में राजसूर्य यज्ञ का वर्णन है। इसमें ब्राह्मणों को मिलने वाली सम्पदा का जिक्र इस तरह है-तत्र महीपेभ्यो लब्धं वा धनुत्तमम्। तानि रत्नानि सर्वाणि विप्रानां प्रददौ तदा। कोटि सहस्रं प्रददौ ब्राह्मणानां महात्मनाम्। यानी युधष्ठिर को बहुमूल्य रत्नों आदि की जो भेंट आए हुए राजाओं से मिली थी, वे सब ब्राह्मणों को दे दी गई। इसके अलावा हजार करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ ब्राह्मणों को दे दी गई। हजार करोड़ की काव्यात्मक अतिरंजना के बावजूद हजार करोड़ न सही, दो चार लाख स्वर्ण मुद्राएँ देना असंभव नहीं था और राजाओं ने युधष्ठिर को छोटी-मोटी भेटें नहीं दी होगी। ब्राह्मणों को वे भी मिलीं। यज्ञ के एवज में यह साधारण आमदनी नहीं है। और ऐसे यज्ञ जीवन में दो-चार नहीं होते।

ब्राह्मण ने यज्ञ को सबसे बड़े और सबसे आसान उद्योग में तब्दील किया यह दुनिया की किसी भी दूसरी संस्कृति में नहीं हुआ कि एक धार्मिक कर्मकाण्ड एक समूचे जनसमुदाय (यहाँ ब्राह्मण संस्कृति) के

लिए न सिर्फ उद्योग बल्कि अनिवार्य खपत वाले उद्योग में परिवर्तित हो जाएँ राजाओं-महाराजाओं की तरह पिछले साढ़े तीन हजार बरस से आज तक यह ब्राह्मण-संस्कृति सोने के सिंहासनों पर बैठती और रत्नजटित पालकियों पर चलती रही है तो इसी यज्ञ के चलते।

संस्कृत ग्रंथों में (बौधायन धर्मसूत्र) गृहस्थ ब्राह्मण की दो श्रेणियाँ कही हैं- एक शालीन (या लेजर क्लास?) और दूसरी यायावर। यायावर के पास कोई सम्पत्ति नहीं होती, वह सिर्फ खेतों में गिरे अन्न के दानों से काम चलाता है, पुरोहिती भी नहीं करता। शालीन पुरोहिती करता है, अध्यापन करता है, कुछ व्यापार आदि भी करता है। दूसरी जगह यायावर को भी पुरोहित बताया गया है।

यहाँ हमारा उद्देश्य यह दिखाना है कि कुलीन या सुखासीन पुरोहित ब्राह्मण (शास्त्रों के अनुसार शालीन अथवा बड़े महल में रहने वाला) किस तरह समृद्धि एकत्र करता है। शास्त्रों में सभी सुखासीनों के लिए प्रतिदिन यज्ञ का विधान है। यज्ञ केवल ब्राह्मण ही करवा सकता है। इसका अर्थ है समाज का हर सुखासीन हर दिन ब्राह्मण को दक्षिणा देगा ही देगा।

ब्राह्मणों ने जो समाजतंत्र आर्यों पर हावी होने होने के बाद लागू किया, उसमें सबसे बड़ी जगह यज्ञों की है। यह यज्ञकर्म ब्राह्मण कर्मतंत्र में तीर्थों से भी ज्यादा स्थान घेरता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है (१.७.४५) यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म यानी यज्ञ सबसे महान् काम है। कर्म यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, उपासना यज्ञ के नाम से यज्ञों की जो तीन श्रेणियाँ की गई हैं उनमें मनुष्य के और समाज के जीवन के हर पक्ष को यज्ञों से अनिवार्य रूप से जोड़ दिया गया है। कर्म यज्ञ में गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक के सोलह संस्कारों के यज्ञ हैं, शिक्षा, आहार, कपड़े, मकान, कृषि, पशुपालन, संगीत, भूगोल, ज्योतिष, वैद्यक, शस्त्र, वाहन, युद्ध आदि बड़ी तादाद में जीवन से जुड़ी स्थितियाँ या वस्तुएँ यज्ञ कर्म के बिना नहीं होती। ईश्वर, देवता, पुनर्जन्म, कर्मफल, वर्ण, आश्रम, स्वाध्याय आदि ज्ञान यज्ञ होते हैं और इनके अलावा सभी धार्मिक अनुष्ठान, पूजा-पाठ आदि उपासना यज्ञ होते हैं और इन सभी में पुरोहित ब्राह्मण होता है। जाहिर है ब्राह्मण समुदाय के लिए नियमित आय का यह बड़ा साधन है। ऋग्वेद में यज्ञ करने का जिक्र बार-बार शुरू से अन्त तक आया है, पर इसका विशेष विवरण अथर्ववेद में हैं- (अथर्व, ११-७-७ से १०) राजसूय वाजपेयं अग्निष्टोम् अस्तदध्वरः अर्काश्वमेघौ उच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तम्।। इत्यादि। इसमें राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अश्वमेध, अग्निहोत्र, अग्न्याधान और चातुर्मास यज्ञ गिनाए गए हैं। दिलचस्प है कि दक्षिणा वाले, बहुत दक्षिणा वाले और असंख्य दक्षिणा वाले यज्ञों का भी जिक्र (गोपथ ब्राह्मण १-५-७) किया गया है। ये यज्ञ सिर्फ ब्राह्मण के अर्थोपार्जन के लिए होते रहे हैं।

यहाँ एक बात जानना जरूरी है। ब्राह्मण यज्ञों को एक खर्चीला अनुष्ठान मानते हैं और इसलिए कहते हैं कि यज्ञ साामन्य जनों के लिए नहीं हैं। दरअसल आर्य शेष समाज के उत्पादन से जो लाभकारी कमाई करते थे, उसी के जरिए वे यज्ञों को दान-दक्षिणा का इन्तजाम भी करते थे। इस तरह यज्ञ भी शिल्पियों, कामगारों और किसानों के शोषण का एक बड़ा साधन थे। कहा गया है-श्रीवैराष्ट्रं। राष्टं वै अश्वमेधः। तस्माद्राष्ट्री अश्वमेधेने यजेत। यानी ऐश्वर्य ही राष्ट्र है, राष्ट्र ही अश्वमेध है, इसलिए राष्ट्री यानी राजा अश्वमेध करे। वाक्चातुरी, जो हर ब्राह्मण परिभाषा में मौजूद रहती है, छोड़ दें पर ऐश्वर्य की याद दिलाया जाना महत्त्व की बात है। वेब्लेन ने जिसे लेजर क्लास कहा है वह ऐश्वर्य पर ही निर्मित होता है और ऐश्वर्य दूसरों (कामगारों-शिल्पियों-कृषकों) के उत्पादन पर अपना भारी मुनाफा कमाकर ही प्राप्त किया जाता है। इस तरह का शोषण करने वाला समुदाय पर्याप्त फुर्सत में

होता है। वह ऐश्वर्य को एक तरफ जवाहरात, सोना-चाँदी, हार्थी-घोड़ा महलों-वेश्याओं पर खर्च करता है तो दूसरी ओर यज्ञों पर। जैसा हमने कहा, अधिकांश बड़े यज्ञ लंबे अरसे तक चलते हैं। अश्वमेध तो साल-भर चलता है। साल-भर लुटाए जाते ऐश्वर्य का लाभ पुरोहित उठाता है। संयोग से पुरोहित भी एक नहीं होता। हर यज्ञ में वे बड़ी संख्या में होते हैं।

हमने पहले जिक्र किया था कि ब्राह्मण भारत आने के बाद अपने देवता से तीन चीजें माँगते हैं- बहुत धन, बहुत-सी गायें और स्त्रियाँ। गायें ब्राह्मण दूध-दही के लिए नहीं रखता था। उसके लिए हजारों गायों की जरूरत नहीं होती। गायों का दूसरी (या कहें पहली ही) सबसे बड़ी उपयोगता उसके गोश्त की बड़े पैमाने पर खपत थी।

यह दिलचस्प है कि मनुस्मृति सहित अनेक ग्रंथों में मांस बेचने वाले ब्राह्मण का जिक्र हुआ है। इसका अर्थ बहुत साफ है कि ब्राह्मण मांस बेचते थे। मनुस्मृति में उन्हें **मांसविक्रयिणः** (३-१५२) कहा गया है। अब वे मांस किसी से खरीदकर तो बेचते नहीं होंगे। मांस विक्रय के लिए पशुवध भी करते होंगे। ब्राह्मण ग्रंथों और आरण्यकों में मांस, खासकर गाय-बैल-बछड़े का मांस, खाने-खिलाने के अनेक प्रसंग आए हैं। शतपथ ब्राह्मण (३-४-१-२) में लिखा है- ''राजा और ब्राह्मण के अतिथि होकर आने पर बैल और बकरा पकाया गया।'' ऐतरेय ब्राह्मण में भी 'बैल या वन्ध्या गाय का मांस खिलाने' का (३-४) जिक्र है।

विचित्र बात है कि अतीत के उक्त कुलीनों को शुद्ध शकाहारी सिद्ध करने के लिए सनातनी तथा आर्यसमाजी पंडित गौ का अर्थ अन्न बताते हैं। यास्काचार्य ने गौ को कहीं अन्न नहीं कहा ब्राह्मण संस्कृति को अपनी सुविधानुसार परिभाषित करने के लिए ऐसी तोड़-मरोड़ बहुत की गई है।

महाभारत और पुराणों में ऋषियों-पुरोहितों द्वारा गायें प्राप्त करने के सैंकड़ों उदाहरण भरे हैं। ब्राह्मण द्वारा धन एकत्र करने के कुछ तरीके प्राचीन ग्रंथों में बेहद दिलचस्प हैं मसलन स्त्रियों द्वारा सुहाग के लिए अश्वत्थ की पूजा के समय ब्राह्मण को सोने की विष्णु की मूर्ति मिलती है। जाहिर है उस सोने की भी बिक्री हो जाती होगी। ब्राह्मण के पास एक मजेदार रास्ता यह भी था कि वह कुलीन को बता दे, ग्रह दशा ठीक नहीं है। अगर कोई संकट में हो तो यह समझाना ब्राह्मण के लिए कठिन नहीं था कि सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, शनि आदि में से कोई उस व्यक्ति का शत्रु हो गया है। ऐसे टेढ़े हुए ग्रह को सीधा सिर्फ ब्राह्मण ही कर सकता था और इसके लिए वह कोई भी कीमत वसूल कर सकता था। सोने ही नहीं, कीमती मणि से बनी गाय भी दान में ली जाती थी जो वास्तविक गाय से कहीं ज्यादा महँगी होती है। दान में मिलने वाली रत्नधेनु का विवरण आश्चर्यजनक है-रत्नों की एक गाय के मुँह में ८१ पदमराग दल, नाक पर १०० पुष्पराग दल, मस्तक पर सोने का तिलक, आंखों में १०० मोती, सोने के सींघ, सिर पर १०० हीरे, गरदन पर भी १०० हीरे, पीठ पर १०० नीलम, दोनों बगलों में १०० वैदूर्य मणियाँ, खुर सोने के और पूँछ मोतियों की। ऐसी छोटी से छोटी आकृति की कीमत असाधारण ही होगी जो ब्राह्मण प्राप्त करता था।

ज्ञान मीमांसा के विरुद्ध

शंकराचार्य ने बौद्ध दार्शनिक चिन्तन से सीधी मुठभेड़ की। उन्होंने बौद्ध विचारकों के विज्ञानवाद, शून्यवाद, सर्वास्तिवाद और योगाचार की खासी तार्किक और तीखी आलोचना की थी। ब्रह्मसुत्रों के भाष्य के दौरान उन्होंने उक्त दर्शन परंपराओं का इतना खण्डन क्यों किया यह सोचने की बात है क्योंकि बुनियादी रूप से उनकी अपनी स्थापनाओं से विज्ञानवाद का ज्यादा फासला नहीं था, बल्कि परवर्ती ब्राह्मण विचारकों ने शंकर पर प्रच्छन्न बौद्ध होने का आरोप ही लगाया था।

ब्राह्मण वैचारिक इतिहास की दृष्टि से शंकराचार्य

अपने पूर्ववर्ती कुमारिल भट्ट के ही विस्तार थे। कथा है कि किसी रानी ने अपने बौद्धपति से दुखी होकर (जाहिर है वह ब्राह्मणी रही होगी जो राजा के हरम में थी) आवाज लगाई थी–को वेदान् उद्धरिष्यति, वेदों का उद्धार कौन करेगा।

ब्राह्मण समुदाय में पत्नी वह स्त्री सिर्फ वही कुछ जानती–मानती होगी जो ब्राह्मण परिवार में उसे बताया गया होगा। स्त्री को लेकर ब्राह्मण तंत्र की जो सोच थी उसकी सच्चाई उस तक नहीं पहुँची होगी। उसने वेद देखे नहीं होंगे जिनमें स्त्री की तुलना भेड़ियों से की गई है। उसने अथर्ववेद भी नहीं देखे होंगे जिनमें स्त्री को पीटते हुए घर लाने या उसे बाँधकर रखने तक के जिक्र थे। उस स्त्री ने धर्मशास्त्र और पुराण या महाभारत भी नहीं पढ़े होंगे, जिनमें स्त्री को जहर, आग और साँप से ज्यादा भयानक पापिनी और दृष्टा–धूर्ता कहा गया है।

यहाँ मैं एक अवान्तर कथा देना चाहूँगा जिसका संबंध ब्राह्मणों की आदि इजारेदारी पंजाब से हैं। भारत के विख्यात फिल्म निर्देशक गुलजार पंजाब के हैं। मैं उन्हें हिंदी में खत लिखता था और वे अंग्रेजी में जवाब देते थे क्योंकि वे उर्दू भाषा के कवि–लेखक रहे हैं और मैं उर्दू बिल्कुल नहीं जानता। एक बार मैंने खीजकर उन्हें लिखा कि इतने दिन बाद भी तुमने हिंदी क्यों नहीं लिखी। इस पर गुलजार का जो जवाब आया वह महत्त्वपूर्ण है। गुलजार ने व्यंग से लिखा था–तुम तो जानते हो पंजाब का मर्द उर्दू लिखता है और पंजाबी बोलता है। हिंदी पंजाब में औरतों को पढ़ाई जाती है ताकि वे रामायण (रामचरितमानस) पढ़ सकें। रामचरितमानस औरतों को इसलिए पढ़ाई–सुनाई जाती रही है कि वे 'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी ये सब ताड़न के अधिकारी' को धर्मादेश मानें। वे यह समझें कि उनका धर्म उन्हें शूद्र, पशु और ढोल की तरह पिटने की आज्ञा देता है, सीता की तरह गर्भिणी अवस्था में घर से निकाले जाने की नियति स्वीकार करने को कहता है।

जाहिर है जिस रानी ने खिड़की से कुमारिल भट्ट को आवाज लगाई थी– कौन वेदों का उद्धार करेगा, उसने वेद क्या कुछ भी पढ़ा नहीं होगा क्योंकि स्त्री को भी शिक्षा के अधिकार से ब्राह्मण वंचित रखता था। इसके साथ ही चूँकि स्त्री को ब्राह्मण धर्मशास्त्र पूरी तरह संपत्ति तथा दूसरे सामाजिक अधिकारों से वंचित रखता था, इसलिए वह निश्चय ही एक निरीह पशु में तब्दील हो जाती थी। परिवार में पाले गए कुत्ते की तरह ब्राह्मण व्यवस्था में परिवार की स्त्री लातें खाने के बाद भी पति को भगवान् और ब्राह्मण–व्यवस्था को ईश्वर की इच्छा मानकर स्वीकार करती रही है। यही वजह है कि बौद्ध राजा के हरम में रहकर भी उसे वैदिक संस्कृति के क्षय की चिन्ता बनी रहती होगी।

संयोग से बौद्ध विचार परंपरा के विरुद्ध ब्राह्मण संस्कृति की पुनर्स्थापना और उसके पुनर्प्रचार में कुमारिल भट्ट की बहुत बड़ी जगह है।

बौद्धों ने तथाकथित ईश्वर पर निर्भरता को समाप्त करके मनुष्य को मौलिक चिन्तन से जोड़ा था। उन्होंने वस्तुजगत् के बोध अथवा चेतना की क्रियाशीलता के गहरे अध्ययन किए थे और वे इस क्षेत्र में उस रास्ते पर चल रहे थे जहाँ दुनिया का दर्शन–चिंतन अपनी यात्रा कर रहा था। यज्ञ, उपासना और पुरोहिती को एकमात्र अध्यात्म, अस्त्रशास्त्र और व्यवसाय बना चुका ब्राह्मण समुदाय दूसरों को ही नहीं अपने को ज्ञान और विवेक की दुनिया से अलग रखता रहा था। वह मंत्रोच्चार के अलावा किसी भी चिन्तन–दर्शन को गैरजरूरी समझता था। पर उसी काल में आर्य संस्कृति जो कुछ कर रही थी वह विचार परंपरा का विकास था और उसे भारी स्वीकृति भी मिल रही थी।

इसलिए ब्राह्मणों में जो दक्षिणा संग्रही तत्त्वों से असंतुष्ट थे उन्होंने बौद्ध विचारकों का विपक्ष तैयार करने की कोशिश की। शंकराचार्य से कुछ दशक

पहले वह अभियान शुरू हो गया था, जिसके बड़े प्रतीक शंकर बने। यह अभियान सातवीं शताब्दी ईसवी में ज्यादा प्रबल हुआ। आठवीं शताब्दी की शुरुआत दो बड़े और तेज-तर्रार लोगों से हुई। एक थे प्रभाकर गुरु और दूसरे विख्यात कुमारिल भट्ट।

बौद्ध धर्म का प्रमुख वैचारिक अभियान तीन बातों पर केन्द्रित था-वेद प्रमाण की अस्वीकृति, यज्ञों को भौतिक जगत् की सुख-सुविधाओं का संरक्षक विचार बनाए जाने का विरोध और व्यक्ति या ब्राह्मण की श्रेष्ठता का खण्डन। बुनियादी रूप से बुद्ध के वैचारिक अभियान को कुछ तो भारतीय आर्यों (कुलीन सुखासीनों) की संस्कृति से लिया और कुछ अन्तर्राष्ट्रीय वैचारिक महासागर से भी लिया। बौद्ध विचारक भारत से बाहर निकलकर पूरे एशियाई और भूमध्यसागरीय संस्कृतियों के इलाकों से विचारों का आदान-प्रदान करते रहे थे।

ब्राह्मण जहाँ से आया था उसे अपने पितरों से लगातार जोड़ता रहकर भी वहाँ कभी नहीं गया। यात्रा तक को ब्राह्मण संस्कृति में वर्जित किया गया क्योंकि मीडियाई ब्राह्मणों ने अपनी युद्ध क्षमता के बावजूद ऊर से लेकर फिलिस्तीन, ईरान, असीरिया के क्षत्रों से गुजरते हुए भारत तक आते-जाते बहुत भयानक संकट झेले थे। उन्होंने इसलिए (रामायण) में कुछ इस तरह लिखा भी था-न कथंच न गन्तव्यं करुणां उत्तरेण वः। कुरु के उत्तर (ब्रह्मावर्त के उत्तर) की ओर कभी मत जाना। बौद्ध विद्वान शुरू से उधर जाते थे और सुमेरियाई, चीनी, यूनानी संस्कृतियों से बहसें करते थे।

बौद्ध चिन्तन परंपरा का एक बड़ा उदाहरण यही है कि बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु ने अभिधर्म कोश जैसे बड़े ग्रंथ की रचना की थी जो बौद्ध साहित्य का विश्वकोष है। नागार्जुन भारतीय अब्राह्मण विचार प्रतिभा के सबसे धनी व्यक्ति थे। वे दूसरी सदी के मध्य में हुए थे। वे शून्यवादी विचारक थे। यह एक अत्यन्त जटिल दर्शन था। शून्यवाद के सिद्ध करने में कई तार्किक अड़चनें थीं। मसलन कोई कहे-सब शून्य है तो ये शब्द भी शून्य ही होंगे या नहीं?

कहते हैं नागर्जुन बाह्मण थे। असंग और वसुबंधु भी ब्राह्मण माने जाते हैं। बुद्ध ने स्वयं अपने तर्कों से अम्बष्ठ मालवक जैसे ब्राह्मणों को निरुत्तर किया था और अनेक ब्राह्मण बौद्ध हुए थे। नागार्जुन को लेकर तो ब्राह्मणतंत्र की एक बेहद दिलचस्प किवदंती है। कहते हैं **उनके जन्म के समय कहा गया था कि उनके पिता १०० ब्राह्मणों को भोजन कराएं तो पुत्र होगा। पिता ने १०० ब्राह्मणों को भोज दिया और बालक पैदा हुआ। पैदा होने के बाद ज्योतिषियों ने कहा- बेटा सिर्फ दस दिन जीवित रहेगा। ज्यादा जिए इसके लिए १०० ब्राह्मणों को भोज दो। वह भी किया गया। सात वर्ष का होने पर उसकी मृत्यु की फिर आशंका बताई गई। तब बालक के पिता ने उसे दूर क्षेत्रों की यात्रा पर भेज दिया ताकि वे स्वयं उसकी मृत्यु न देखें। यही बालक एक बौद्ध विहार में शिक्षित होकर नागार्जुन बना। इस कहानी में जहाँ ब्राह्मण जाति के चरित्र की तस्वीर मिलती है** वही यह भी मालूम होता है कि पारंपारिक, रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार का बच्चा बौद्ध शिक्षा लेकर एक बड़ा तार्किक दार्शनिक बना।

असंग और वसुबंधु पेशावर (कन्दहार) के थे। चौथी सदी ईसवी के वे बहुत बड़े विज्ञानवादी (सब्जेक्टिव आयडियलिस्ट) विचारक थे। यह पेशावर उसी सांस्कृतिक महासागर का हिस्सा था जिसका जिक्र हम पहले कर चुके हैं। वयं पणिनि, जो ईसापूर्व छठी से चौथी सदी के बीच के थे, इसी महासागर के तक्षशिला के पास के गाँव के थे। असंग और वसुबंधु भी ब्राह्मण ही थे, पर वैदिक अब्राह्मणीय परंपरा के विरोधी थे।

यहाँ हम एक खास तथ्य की ओर ध्यान दिलाना चाहेंगे। **अधिकांश महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण बौद्ध विचारक हीनयान से नहीं महायान से जुड़े हुये थे। हीनयान**

बौद्ध रुढ़ियों पर ज्यादा निर्भर था जबकि ज्यादा प्रचारित महायान पूजा-पाठ में ब्राह्मणचायो जैसा हो गया था। शायद यहाँ ब्राह्मणों का ही प्रभाव रहा हो और ब्राह्मण इसलिए उसकी ओर ज्यादा आकृष्ट होते रहे हों। बौद्ध न्यायशास्त्र के सबसे बड़े विचारक **दिङ्नाग** पाँचवी सदी में हुए थे और वे भी ब्राह्मण ही थे। कहते हैं कि न्याय शास्त्र पर दिङ्नाक ने एक सौ से ऊपर किताबें लिखी थीं।

अपेक्षाकृत कम विख्यात, दिङ्नाग के शिष्य धर्मकीर्ति को कई विदेशी विद्वानों ने भारत का इमैनुअल कान्त कहा है। दरअसल सही अर्थों में धमकीर्ति **बुद्ध विवेक** के सबसे ज्यादा निकट थे। बुद्ध का विख्यात वचन है-**अप्पदीवो भव** यानी अपनी रोशनी तुम खुद बनो। धर्मकीर्ति ने इस अवधारणा का व्यापक विस्तार किया था। धर्मकीर्ति सातवीं शताब्दी के थे। **कुमारिल** और **शंकराचार्य** से पहले हो चुके थे।

दिलचस्प है कि बीसवीं सदी के मध्य तक धर्मकीर्ति के बारे में किसी को कुछ भी ज्ञात नहीं था। **राहुल सांस्कृत्यायन उनकी सबसे बड़ी कृति 'प्रमाण वार्तिक' की पाण्डुलिपि तिब्बत से लाए थे जो १९५३ में पहली बार प्रकाशित हुई थी।**

हमने ऊपर उपनिषदों के हवाले से कहा था कि उपनिषद् जिस समाज के विचारों की तस्वीर देते हैं, उसमें तर्क खारिज किया जाता है-नैषातर्केण मतिरापनेया। **गीता भी कहती है तर्क और संदेह करने वाला व्यक्ति नष्ट हो जाता है।** ब्राह्मणों की धार्मिक किताबें (जैसे महाभारत) कहती हैं कि **तर्क करके ब्राह्मण को पराजित करने वाला सबसे बड़ा दुष्कर्मी होता है।** वैदिक ब्राह्मण विचार परंपरा तर्क को खारिज करके बड़ी निश्चिन्तता से पुरोहिती को ही समूची बौद्धिकता मानती रही। इसी मजबूरी के कारण दार्शनिक चिन्तन की तमाम कोशिशें करने के बाद उपनिषद्कार अन्ततः यज्ञ और पुरोहितों को सर्वस्व बताने के लिए प्रतिश्रुत होता है।

बुद्ध के जिस विचारबीज 'अप्पदीवो भव' को धर्मकीर्ति ने व्याख्यायित और विकसित किया, निश्चय ही शंकर से पहले बहुत सशक्त और गहरा दार्शनिक उत्थान बौद्ध विचारकों द्वारा हो चुका था। कुमारिल भट्ट और **पक्षिल स्वामी** जैसे कुछ बौद्ध-विरोधी ब्राह्मणों ने उपनिषदों से कहीं आगे बढ़कर दार्शनिक बहसें उठाई। उनमें तर्कशीलता भी थी और पारंपारिक पुरोहिती तंत्र को शब्दावली से बाहर निकलने का साहस भी था। यह अलग बात है कि **इसी साहस के चलते शंकर पर प्रच्छन्न बौद्ध होने के आरोप भी लगाए गए।** आगे हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि शंकर द्वारा विकसित चिन्तन पुरोहित वर्ग के ठहरावादी उद्देश्यों से कितना अलग था और क्या वह ज्ञान परंपरा को आगे ले जाता था?

उपनिषद् काल के आसपास ही दुनिया में, खासकर यूनान के इलाके में बड़ी दार्शनिक वैचारिक परंपरा विकसित हो चुकी थी।

बौद्ध ज्ञान मीमांसा की परंपरा

जिन दिनों का लेखन उपनिषदें हैं, उस काल में भारत के कुलीन आर्यों का विचार परिवेश क्या था, हम उस पर भी थोड़ा नजर डालना चाहेंगे। ईसापूर्व सातवीं और छठी सदी में दर्शन-चिन्तन के कुछ बुनियादी सवाल उठ चुके थे। **सुकरात** से पहले ही तत्त्वज्ञान का एक बहुत बड़ा सवाल उठ रहा था। यह सवाल होमरीय समय की कविता में उठे थे-**क्या व्यक्ति का बोध ही उसका स्वरूप होता है?** उस समय के समाज की ऐतिहासिक स्थिति को देखते हुए इस समस्या को यों स्पष्ट किया जा रहा था- ''राजा न्याय का बोध होता है'', ''स्त्री कौमार्य को समझती है''आदि।

निश्चय ही उस समय सांस्कृतिक महासागर के अफगानिस्तान और पंजाब के क्षेत्र में अपेक्षाकृत ज्यादा विकसित दार्शनिक-चिन्तन हो रहा था। जैनों में पुराने ३६३ पंथ गिनाए गए हैं और बौद्धों में लगभग ६२

पंथ। **मस्करिन, केशकंबलिन, गैरुय, दिगंबर जैसे संप्रदाय** अलग-अलग विचारों के वाहक थे। इन्हीं में **चार्वाकपंथी, अक्रियावादी, लोकायत** आदि भी थे।

बौद्ध साहित्य के बुद्ध के समय में मशहूर ६ वरिष्ठ विचारक थे। खुद सम्राट अजातशत्रु ने इनमें से अनेक से बातचीत की थी। **निगंठ नाथपुत्त, मक्खलिगोसाल, पूर्ण कस्सप, अजित केश कबलिन्, पकुद कच्चायन** के अलावा संजय **बेलुट्ठिपुत्त** भी उसे समय के विख्यात विद्वान थे। संजय बेलुट्ठि को लेकर अजातशत्रु ने बड़ी दिलचस्प टिप्पणी की थी। उनका कहना था कि जितने विद्वान गुरुओं से उन्होंने बात की, उनमें सबसे मूर्ख संजय बेलुट्ठिपुत्त ही थे। वे किसी जिज्ञासा का सीधा-सीधा उत्तर नहीं देते थे। वे मानते थे कि कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर नहीं मिलता ओर उत्तर दिया भी नहीं जाएगा। बेलुट्ठिपुत्त की इस अजातशत्रु वर्णित तथाकथित 'मूर्खता' से उपनिषद् विचारों की तुलना की जानी चाहिए **केनउपनिषद्** में (श्लोक १०) कहा गया है-नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद्वेद नो न वेदेति वेद च। अर्थ है-मैं नहीं मानता कि मैं जानता हूँ और मैं नहीं जानता, यह भी नहीं कह सकता। उसे जानता वही है जो यह जानता है कि वह न तो जानता है न नहीं जानता है।

अगले श्लोक में फिर कहा गया है-यस्यामतं तस्य मतं यस्यमतं न वेद सः। अवितं विजानताम् विज्ञातम् अविज्ञानताम्। यानी जो मत नहीं प्रकट करता उसी का मत होता है, जिसका मत होता है वह कुछ नहीं जानता। जिसे मालूम है उसे कुछ नहीं मालुम और जिसे नहीं मालुम उसे सब पता है।

जाहिर है कुछ उसी तरह की बात संजय बेलुट्ठिपुत्त से अजातशत्रु ने सुनी होगी और मत बनाया होगा कि यह आदमी मूर्ख है, किसी सवाल का सीधा जवाब नहीं देता। **अजित केशकंबलिन पूरी तरह भौतिकतावादी थे और पराशक्ति, अध्यात्म, आत्मा आदि में विश्वास नहीं करते थे।**

मक्खलि गोसाल कपड़े नहीं पहनते थे, नंगे रहते थे। उनका एक सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध था कि संसार में एक निश्चित अवधि के लिए हर किसी को दुख सहना ही पड़ता है। मक्खलि गोसाल के इस सिद्धांत की जड़ कहीं-न-कहीं प्राचीन बाइबल में है। जिसका एक रूप वर्जित फल आदम और हौवा द्वारा खाए जाने और स्वर्ग से निकाले जाने में दिखाई देता है। गोसाल का एक विचार खासा महत्त्वपूर्ण है-वस्तुजगत् का रूप पूर्वनिर्धारित है और उसका कोई मूल कारण नहीं है, ईश्वर आदि किसी ने नहीं बनाया।

यह एक विशेष इतिहास सांस्कृतिक घटना है कि ब्राह्मण समुदाय के अत्याधिक लोकप्रिय और विख्यात दार्शनिक शंकराचार्य से पहले गैरब्राह्मण विचारकों की एक लंबी परंपरा रही है। इसी परंपरा से प्रभावित ब्राह्मण समुदाय स्वयं मौलिक चिन्तन की कोशिश भी करता है और ब्राह्मण धर्मसूत्रों के भय से अन्ततः घुमा-फिराकर हर दार्शनिक अवधारणा को ब्राह्मण श्रेष्ठता, वेद की मांत्रिकता और यज्ञों की महत्ता में घटित कर देता है।

पर इसी ब्राह्मण समुदाय में से जो बौद्ध धर्म के दायरे में आ गए, वे प्रखर चिन्तन का काम कर सके। ऊपर हमने संजय बेलुट्ठिपुत्त का जिक्र किया था। इन्हें अजातशत्रु ने सबसे मूख आचार्य कहा था। उनके दो ब्राह्मण शिष्य थे-सारिपुत्त और मौदगल्यायन। मगध में ये दोनों विद्वान ब्राह्मण बुद्ध के शिष्य बन गए थे। इनसे पहले एक जटाधारी अग्निपूजक ब्राह्मण अपने शिष्यों सहित बुद्ध का अनुयायी हो चुका था। इससे बुद्ध का प्रभाव ही बढ़ना नहीं शुरू हुआ, उनके विचारों की तार्किकता को भी बल मिला होगा।

शायद यह तार्किकता का ही बल होगा कि ईसा के करीब दो-सवा दो सौ बरस पहले ही पूर्वी तुर्किस्थान में बौद्ध धर्म की स्थापना हुई और बौद्ध शासन हुआ। वह एक समृद्ध भारतीय उपनिवेश ही बना जिसमें अशोक के वंशज राज करते रहे थे। दूसरी ओर समूचे

दक्षिणी-पूर्वी एशिया से लेकर चीन, जापान और कोरिया तक बौद्ध धर्म को स्वीकृति मिली। विचित्र बात है कि भारत आ चुके अब्राह्मणी ब्राह्मण अपने वेदों और सत्ता-शक्ति के बावजूद समूचे भारत में भी नहीं फैल सके, विदेश पहुँचने की तो बात ही दूर है। **ब्राह्मण संस्कृति के कुछ छोटे-छोटे टुकड़े अगर पश्चिम एशिया और योरोप तक पहुँचे तो ब्राह्मणों के कारण नहीं, मूलवासी भारतीय आर्य (कुलीन) व्यापारियों के कारण।** निश्चय ही थोड़े-से प्रगतिकामी बुद्धिजीवी ब्राह्मण इस स्थिति को देख रहे होंगे। लगभग आधी दुनिया को बौद्ध विचारधारा से प्रभावित होते देखकर उन्हें अपने अस्तित्त्व की चिन्ता जरूर हुई होगी। शायद इसलिए कुछ उपनिषदकार यज्ञ को ढकोसला बताते हैं तो ब्रह्मसूत्रकार कादरायण (वे व्यास हों यह जरूरी नहीं है) के भाष्यकार शंकराचार्य ने यहाँ तक लिख डाला-न माता न पिता वा न देवा न लोका न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुपन्ति।

एक बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य (उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों के विचारों के बावजूद) यह है कि जिस समय भारतीय आर्य चिन्तक गहन तत्त्वचिन्ता या दर्शन जिज्ञासा में व्यस्त थे, ब्राह्मण वेदभाष्य के प्रयत्नों (यास्क) के साथ-साथ अपने कर्मकाण्ड की प्रतिष्ठा में लगे हुए थे, मस्करिन, केशकंबलिन आदि विचारक दर्शन-चिन्तन में अपना **स्वतंत्र तर्कशास्त्र** विकसित कर रहे थे। **तर्क निश्चय ही विचारों की दुनिया में सबसे ताकतवर हथियार होता है। वैचारिक प्रभाव तलवार से उतना नहीं फैलता जितना तर्क से फैलता है।** बीसवीं सदी के शुरू में मार्क्सवादी तर्कों के आधार पर सोवियत रूस की सत्ता स्थापित हो जाने के बाद पश्चिम यानी योरोप और अमेरिका के वे चिन्तक बेहद चिन्तित हो गए थे जो समाज में पूँजीवादी व्यवस्था के पक्ष में खड़े थे और सोशल डार्विनिज्म को अपने विचारों का आधार बना रहे थे। उन्नीसवीं सदी के अन्त में गास्पेल ऑफ वेल्थ-कार्नेगी के प्रकाशन से लेकर बीसवीं सदी के मध्य में छद्म सोशल डार्विनिस्ट विचारकों के संगठन कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम के जन्म तक सामाजिक, आर्थिक समानता के विरुद्ध हथियारों से ज्यादा विचारों और तर्कों से लड़ाई लड़ी गई थी।

उक्त वैचारिक संघर्ष का एक बड़ा संदेश यह है कि **जो बुद्धिजीवी सामाजिक, आर्थिक असमानता के पक्ष में होता है वह तर्क को खारिज करके धर्मतंत्र, अँधविश्वास और कुलीनता परस्त रचनात्मकता को महत्त्व देता रहा है।**

उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के शुरू में योरोपीय चित्रकला के मुहावरे और विषय-वस्तु में कुछ गहरे परिवर्तन हुए थे। चित्रकला ने अमूर्तता का एक विवादास्पद रास्ता खोल लिया था। यह वही समय था जब योरोप-अमरीका का धनी व्यक्ति हीरों के बजाय चित्रकारों की कृतियाँ हीरे से ज्यादा महँगे दामों में खरीदने लगा था। अमूर्त चित्रकला का बड़े पैमाने पर आमजनों में मजाक उड़ाया जा रहा था। पर समीक्षक समुदाय ने उसके ऐसे भाष्य किए जिससे यह सिद्ध होने लगा कि आम आदमी कला को नहीं समझा सकता। कला की समझ और पहचान सुखासीन (लेजरक्लास) के पास ही है। जैसे आम आदमी को मूर्ख सिद्ध करने के लिए कला की दुनिया में वास्तविकता को कला से पूरी तरह गायब कर दिया गया। यही वह समय था जब कैण्डेन्स्की या हॉलैण्ड के मान्द्रियाँ (या मांडियन?) जैसे चित्रकारों ने सुखासीन और सामान्यजन की अभिरुचियों में स्पष्ट भेद पैदा करते हुए चित्रकला को अपरिभाषेय बना दिया था। कला अब जीवन की पहचान से हटकर इनआर्गेनिक, सिन्थेटिक या प्लास्टिक बोध में तब्दील हो गई। यह कलाजगत् में सामाजिक गैरबराबरी के पुनरुत्थान का एक बड़ा युग था।

ठीक यही स्थिति बुद्धपूर्व और बुद्ध युग के ब्राह्मण विचारकों की थी। यह समय तक उनकी **सांस्कृतिक गैरबराबरी के सिद्धांत** को सीधी चुनौती का खतरा हो

गया था।

ज्ञान, विज्ञान, जिज्ञासा और तर्क सांस्कृतिक गैर-बराबरी को समाप्त करता है। बुद्ध ने जब सामाजिक गैरबराबरी का विरोध किया तो उन्होंने सबसे बड़ा महत्त्व **तर्क** को दिया था। **तर्क या संदेह हर व्यक्ति को ऊर्जा देता है जबकि तर्क का विरोध विचारों को कुछ चुने हुए लोगों की सम्पदा बनाता है।** हमने ऊपर धर्मकीर्ति का जिक्र किया था। वे बुद्ध के सिद्धांत अपना खुद-खोजो के सबसे बड़े भाष्यकार तार्किक थे। हमने ऊपर लिखा था कि कई विचारकों ने उनकी तुलना कान्त से की थी। कान्त ने १७८४ में एक लेख लिखा था-व्हाट इज एनलाइटेनमेण्ट। इसकी कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं की ओर ध्यान देना चाहिए - ''नाबालिग बने रहने में कितना आराम है? अगर मेरे पास कोई किताब है जो मेरी समझ का विकल्प बन सकती है, कोई आध्यात्मिक सलाहकार है जो मेरी अंतरात्मा बना सकता है, कोई डॉक्टर है जो मेरे खानपान का फैसला करता है तो फिर क्या जरूरत है मुझे मुसीबत मोल लेने की?'' (संधान अंक ३, पृ.२९ से उद्धृत)। वेदोत्तर काल का ब्राह्मण समाज को इसी तरह नाबालिग रखना चाहता है। धर्मतंत्र इस काम में उसकी सबसे बड़ी मदद करता है। संयोग से वामपंथ के विरुद्ध सुखासीन लोगों के गैरबराबरी के सिद्धांत की स्थापना के लिए गठित कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम के मिलान सम्मेलन (१९५५) में धर्म की आजादी और पूजापाठ की प्रतिष्ठा पर बड़ा जोर दिया गया था। सोशल डार्विनिज्म के पुनरुत्थान की कोशिश करते डैनियल बेल जैसे लोग इसलिए धर्मतंत्र को प्रतिष्ठित कर रहे थे कि **धर्मतंत्र समाज को नाबालिग बनाने की सबसे बड़ी मशीन होता है।**

जर्मन विचारक एरिक फ्रांस की एक बात उक्त संदर्भ में हम उद्धृत करना चाहेंगे- ईश्वर का विचार समर्पण को बल देता है। वयस्कों में भी वह वरिष्ठों के प्रति निष्ठा और सत्तापुरुषों को अतीन्द्रिय समझने की आदत डालता है। (द फ्रैंकफर्ट स्कूल, पृ.५६)।

ईसाई धर्मोपदेशक जे.एच.न्यूमन का एक उद्धरण देखें- ''धर्म का मूल तत्त्व है अधिकार और आज्ञाकारिता की स्थापना।'' (ई.ई.केलेट द्वारा ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ रेलिजंस में उद्धृत, पृ.९)

धर्म चूँकि तर्क और जिज्ञासा को खारिज करता है, इसलिए निश्चय ही समर्पित समाज को वयस्क नहीं होने देना चाहता। धर्म गैरबराबरी का सबसे बड़ा साधन उस वक्त बनता है जब निष्ठावान समाज को सामाजिक अधिकार पा चुके लोगों के प्रति निभ्रान्त समर्पण सिखाता है। संदेह, शंका, जिज्ञासा, बहस और तर्क इस स्थिति को तोड़ते हैं, इसलिए वे सामाजिक गैरबराबरी खत्म करने के लिए सबसे उर्वर जमीन साबित होते हैं।

अथर्ववेदोत्तर काल में ब्राह्मण संस्कृति और भारतीय समाज से जुड़े बुद्धिजीवियों के बीच सामाजिक समानता के आदिम स्वरुप का संघर्ष हुआ। गैर-ब्राह्मण पूरी तरह गैरबराबरी की समाज वैज्ञानिक अवधारणा से परिचित नहीं थे। वे आर्थिक समता के मूल्य भी विकसित नहीं कर पाए थे जो यूरोप में अठारहवीं सदी से विकसित हुए थे। पर वे विचारों की इजारेदारी और किसी के प्रश्नों-संदेहों से परे होने की बात से भी सहमत नहीं थे, चाहे वह ईश्वर हो या पुरोहित।

यह स्थिति ब्राह्मण पुरोहित को अपने अस्तित्त्व के लिए सबसे बड़ा खतरा लगने लगी होगी। अपनी श्रेष्ठता और समाज में अपनी गैरबराबरी के लिए इस पुरोहित वर्ग ने ऐसी परमसत्ता की परिकल्पना की जिसे उन्होंने अनिर्वचनीय कहा-शब्दों द्वारा बयान न किया जा सकने वाला। जाहिर है अनिर्वचनीय कह देने के बाद उस शिखरसत्ता को सिद्ध करने की किसी भी मजबूरी से बचा जा सकता था। लेकिन यह ब्राह्मण समुदाय में एक बंद समाज की तरह रह नहीं सकता था। भारतीय आर्यों (या कुलीनों) की दुनिया ब्राह्मण

पुरोहितों के प्रभाव में आ चुकी थी, लेकिन इनके बुद्धिजीवी–विचारक तो स्वतंत्र रुप से काम कर रहे थे और चुनौती बनते जा रहे थे। ब्राह्मण ने परम सत्ता की कल्पना तो कर ली थी, पर इतना ही काफी नहीं था। ब्राह्मण–विरोधी वैचारिक आन्दोलन का सामना करने के लिए वेद बहुत कमजोर आधार सिद्ध हो रहे थे। भारत आने के बाद स्थानीय प्राचीन प्राकृत आदि भाषाओं में अपनी भाषा का मिश्रण करके ब्राह्मणों ने जो भाषा गढ़ ली थी, उसमें लिखे वेद खुद ब्राह्मणों की समझ में नहीं आ रहे थे। ब्राह्मण बराबर कह रहा था कि वेद सारे ज्ञान के भंडार हैं, पर वह ज्ञान है क्या, यह ब्राह्मण खुद नहीं समझ पा रहा था। ऐसी हालात में कुछ बुद्धिजीवी ब्राह्मणों ने स्वतंत्र रूप से दर्शन–चिन्तन शुरू किया वादरायण, कणाद, पतंजलि आदि से लेकर शंकराचार्य तक ने इसी दिशा में काम किया।

कर्मकाण्ड की मजबूरी

हमने ऊपर इस बात का उल्लेख किया था कि ब्राह्मण की एक मजबूरी यज्ञ–कर्मकाण्ड द्वारा सांसरिक समृद्धि को जुटाना था और दूसरी मजबूरी अपने पूर्वपुरुष अब्राह्मण से अपने जन्म को जोड़े रखने की थी। ब्राह्मण ने भारत आने के बाद यहाँ जमने के लिए युद्ध भी किए थे, राजपुरुषों पर काबू पाने के लिए चमत्कार भी किए थे। यज्ञ और विविध संस्कार उसकी आमदनी के भी साधन थे और प्रभुत्व के भी और ये सब आधत्मिकता से अलग थे। ब्राह्मण सिर्फ इतना कर सकता था कि इन्हीं को रहस्यमय बनाए, पर यज्ञ, सम्पत्ति संग्रह और समाज–व्यवस्था संचालन और भौतिकता में सीमित काम हैं। इन्हें रहस्य भी ज्यादा नहीं बनाया जा सकता।

ब्राह्मण के पास उम्मीद की एक बहुत क्षीण रेखा थी, उसका पूर्वपुरुष अब्राहम। उसे ही ब्राह्मण रहस्य बना सकता था। भारत आने के कुछ समय बाद उसके प्रभाव में आए राजपुरुष भी जिज्ञासा करते होंगे–पूर्व पुरुष कौन था। इस सवाल का उत्तर ब्राह्मण ने आध्यात्मिक बनाने की कोशिश की, जिससे बात और ज्यादा उलझ गई। दिलचस्प यही है कि अन्ततः इसी उलझाव को ब्राह्मण ने अपना विचार बनाया। केनोपनिषद् में (श्लोक १४) लिखा है–ब्रह्म द देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवो अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयो अस्माकं एवायं महिमेति अर्थात् ब्रह्म ने देवताओं के हित में विजय प्राप्त की इसलिए ब्राह्मण देवता को विजय मिली। इससे वह महान् हो गया। वह हमारा है और हम उसे ऐसा ही देखते हैं।

समाज में ऐसा अक्सर देखने में आता है कि विजेता खुश होकर अपनी जीत का श्रेय सबसे पहले अपने पूर्वज को देता है। उक्त श्लोक यही काम करता है और उन्हें जवाब भी दे देता है जो ब्राह्मण से उसके पूर्वज को लेकर जिज्ञासा करता है। आपके पुरखे कौन थे, इस सवाल के जवाब में सामाजिक श्रेष्ठता अर्जित कर चुके व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक होता है कि वह अपने पूर्वपुरुष का बखान बढ़ा–चढ़ा कर करे। वस्तुतः अब्राह्मण (या ब्रह्म) के परमसत्ता में तब्दील हो जाने का यह सीधा और स्वाभाविक कारण है। यह भी बहुत सहज बात है कि कोई अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के बाद अपने पूर्व पुरुष को लेकर कहे–अरे उनका वर्णन करना असंभव है। हम देखते हैं तो उन्हीं की आँखों से, सुनते हैं तो उन्हीं के कानों से, कुछ करते हैं तो हम क्या वही करते हैं, हम चलते हैं तो उन्हीं के पैरों से, बोलते हैं तो उन्हीं के जबान से, जो कुछ भी हो रहा है सब उन्हीं के कारण होता है।

स्वाभिमान और आत्मश्लाघा की यह एक बहुत सामान्य–सी स्थिति है पर हम ध्यान से देखें तो इसी में ब्राह्मणों के अध्यात्म की कुंजी भी है।

उपनिषदों और दूसरे अनेक ब्राह्मण ग्रंथों में आता है–न जायते म्रियते वा (वह न जन्म लेता है न मरता है) निहितो गुहायाम् (हृदय की गुफा में रहता है या हमारे दिलों में रहता है) न हन्यते हन्यमाने शरीरे (इस

शरीर के मरने से वह नहीं मरता) अणोरणीयान् महतो महीयान् (वह बेहद सूक्ष्म है और बड़े से बड़ा भी है) नायमात्मा प्रवचने लभ्यो, न मेघया न बहुना श्रुतेन (अब्राहम जो हमारे सबसे निकट है, हमारी आत्मा, हमारी जान है, उसक वर्णन क्या करें बुद्धि चकरा जाएगी, बहुत-से ग्रंथ भी उसके बारे में नहीं बता सकते) इत्यादि। यह सब जिसे सर्वपल्ली राधाकृष्णन से लेकर हेनरिक जिमर तक ने अध्यात्म और ब्रह्मज्ञान का दर्शन कहा है, उस ब्राह्मण समाज को अपने पूर्वजों की बढ़ा-चढ़ाकर की गई प्रशंसा की अभिव्यक्ति हैं। पूर्वज की बढ़ा-चढ़ाकर की गई तारीफ चूँकि एक प्राचीन किताब के रूप में संग्रहित है, इसलिए ढाई-पौने तीन हजार साल बाद निश्चय ही एक मिथकीय रहस्य उसमें झलकने लगता है। और जब हम अतीत के लेखन का ज्यादा आदर करते हैं तो उस पर मिथकीय रहस्यवाद आरोपित करने के अलावा उसे वस्तु-सत्य से अलग करके भी देखने लगते हैं।

कविता के साथ यह अक्सर हुआ है कि किसी एक काव्यात्मक अंश के कई-कई अर्थ निकाले जाते रहे हैं। यह घटना ब्राह्मण साहित्य के साथ भी हुई। हमने पहले इस बात का जिक्र किया था कि यास्क से लेकर दयानंद सरस्वती तक अनेक भाष्यकारों ने वेदमंत्रों के एक-दूसरे से कहीं अलग अर्थ देने वाले भाष्य किए थे। खुद यास्काचार्य ने (जो अथर्ववेद लिखे जाने के कुछ ही सदियों बाद हुए थे।) यह लिखा था कि वेदों के सात भाष्यकारों ने सात तरह के मंत्रभाष्य किए हैं।

यही स्थिति ब्राह्मणों की उन संवेगात्मक अभिव्यक्तियों की भी रही होगी, जिनमें ब्राह्मण ने अपने पूर्वपुरुष अब्राहम के बारे में लोगों को बताया होगा। कठोपनिषद् की एक और काव्यात्मक अभिव्यक्ति देखें-आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिन्तु सारथि विद्धिः मनः प्रगहम् एव च यानी आत्मा को रथ का सवार मानो शरीर को रथ, बुद्धि उसकी सारथी होती है और मन उसकी लगाम।

जिसे बाद में दार्शनिक अभिव्यक्ति माना गया, वह बुनियादी रूप से एक कविता ही थी और यही वजह है कि समूची दुनिया में ऐसी अभिव्यंजनाएँ अक्सर एक-दूसरी से मिलती-जुलती रही हैं और उन सबमें भी आध्यात्मिक रहस्य देखा जाता रहा है।

फिर भी ब्रह्मसूत्र वेदों या उपनिषदों की अभिव्यंजनाओं से अलग किस्म की रचना थी। उसकी जन्मस्थली तो उपनिषदों की कविता ही थी, पर उसे सायास और बहुत क्षमता के साथ दार्शनिक अभिव्यक्ति बनाया गया।

तैत्तिरीय आरण्यक (१.११.५) की एक अभिव्यक्ति बहुत उद्धृत की गई है और उसे वेदान्त की जड़ के एक सूत्र के रूप में देखा जाता रहा है-एक अँधे को हीरा मिला। बिना उँगलियों के उसने उठाया। गला नहीं था, फिर भी वह पहना गया और जिसके आवाज नहीं थी उसने तारीफ की।

गीता की एक और दार्शनिक कविता है-ब्रह्मणार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ, ब्रह्मणाहुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना। यानी ब्रह्म को अर्पण करने वाला ब्रह्म ही है, आग में हवि ब्रह्म है, ब्रह्म ही यज्ञ है, ब्रह्मकर्म की समाधि तक ब्रह्म ही पहुँचाता है। अगर अपने पूर्वज (यहाँ अब्राहम) को तारीफ बड़बोलेपन से की जाय तो कुछ ऐसी ही होगी-हम सारे अब्राहमी (ब्राह्मण) तो अब्राहम ही हैं। अब्राहम को जो भेंट देता है वह अब्राहम ही है। आग में बलि (हवि) भी तो अब्राहम ही है। अब्राहम ही यज्ञ है। अब्राहम के कर्म की समाधि तक अब्राहम ही पहुँचाता है। मूल कथ्य में एक संज्ञा को छोड़कर बाकी अन्तर कोई नहीं है।

मनुस्मृति पर सर विल्यीयम जोन्स की प्रस्तावना–संक्षेप में

राज्यशास्त्र और कानूनशास्त्र में एक कहावत है की, अच्छे रीतिरिवाज के बगैर कानून अर्थहीन होता है। जिन लोगों के लिए यह कानून बनाये जाते हैं। उनके स्वभावधर्म को, उनकी आदतों को, उनके धार्मिक पूर्वग्रहों को एवं परम्परा से चलते आ रहे रीतिरिवाजों को यह कानून अनुकूल होना चाहिये। इन रीतीरिवाजों और रुढ़ियों अथवा धार्मिक विचारों को अगर स्वर्ग से ईश्वर का समर्थन होने की लोगों की श्रद्धा हो तो उस कानून पर अमल करना और भी मुश्किल होता है।

उपरोक्त कहावत अनुसार बरताव करना ब्रिटेन के संसद ने तय करने से अब भारतीय लोगों का कानून पहले समान उनके रीतिरिवाज, कारोबारीक करार एवं उत्तराधिकारी आदि मसले बरकरार रखकर भारत के अंग्रेज सरकार की उसमें दखलंदाजी नहीं होगी। किन्तु उसके लिए राज्यकर्ता को भारतीय लोगों के वे परम्परागत कानून एवं रीतिरिवाज क्या हैं इसे एकदम सही समझना चाहिये। उपरोल्लेखित कारणों से मैं हिन्दूओं के धार्मिक, नागरी एवं अन्य क्षेत्र के क्या कानून है यह समझकर उन्हें प्रसिद्ध कर रहा हूँ। यह कानून मनु नामके ब्रह्मापुत्र ने दुनिया के प्रारंभ में ही तैयार किये है ऐसी हिन्दूओं की श्रद्धा है। इसलिए इस देश के न्यायशास्त्र में अथवा न्यायदान की पद्धति में जो दोष उत्पन्न हुये हैं उसका हल मेरी कोशिशों से होने वाला है, इसी कोशिश में हिन्दू की वह न्यायप्रणाली आज की कारोबारिक युग को अनुकूल तो होगी ही किन्तु उसकी गाभा भी अबाधित होगी।

मनुस्मृती का रचनाकार मनु कब हुआ था यह कहना मुश्किल है। ब्राह्मणों के दावे के अनुसार मनु यह मानवजाति का (Mankind) प्रथम पिता है। उसी ने इस दुनिया के नियंत्रण की कायदे संहिता बनाई है। मनु का काल ब्राह्मण कभी कुछ युग तो कभी कुछ महायुग तो कभी कुछ कल्प पूर्व का या मन्वंतर पूर्व का बताते हैं। जो भी हो यह रचना बेहद पुरातन है इतना तो तय है। मि. डेव्हिसने खोजे हुये पाराशर स्मृति जैसा, खगोलीय स्थिति को ध्यान में रखा जाय तो पाराशर का काल इ.स.पू. १२०० का होता है। मनुस्मृति में पाराशर इस वशिष्ठ ऋषि के पोते का जिक्र कई बार किया गया है। एक जगह तो वह भृगू का समकालीन था ऐसा जिक्र है। किन्तु यह जिक्र पूर्णतया काल्पनिक हो सकता है। क्योंकि **उस वक्त कानून के लेखकों में अपनी रचना को आसानी के साथ ग्रहण कर सके इसलिए वह ईश्वरदत्त अथवा किसी पौराणिक ऋषीने निर्माण की है ऐसा कहने की प्रथा ही थी।** भाषा के कालानुक्रम से मनुस्मृति यह ग्रंथ वेद के उपरांत ३०० सालों बाद और ग्रीक तत्त्ववेत्ता सोलन और लायकूर गस से भी पहले का है। इसके अतिरिक्त वह इजिप्त का प्रथम राजघराने का समकालीन लगता है।

इजिप्त की 'मन्युएस' (Mneues) ग्रीक क्रीट का मिनॉस (Minos) और भारत का (इंडिया) मनु इनका आपस में कोई सम्बन्ध है क्या? यह जाँचना बेहद मनोवेधक होगा, संभव है क्या, या यह नाम केवल ध्वनी साम्य का ही प्रकार हो सकता है।

किन्तु मनु शब्द की व्युत्पत्ति निश्चित ही मेन (Men = To understand) यह धातू (root) से हुई है। इसका अर्थ संस्कृत भाषा में भी 'बुद्धिमान' (intelligent) होता है ऐसा सभी पण्डित कहते है। 'दारा शिकोह' इस राजपुत्र की ब्राह्मणों ने इस कदर पुष्टि की थी की, मनु ही मानव जाति का जनक है, उसे ही ज्यू, ख्रिश्चन और मुस्लिम 'आदम' नाम से संबोधित करते है।

मनु चाहे कोई भी हो उसका वेदों में आदरयुक्त जिक्र मौजूद है। सभी शास्त्र, तर्कशास्त्र और व्याकरण ग्रंथ तब तक ही उसका महत्व बरकरार रखेंगे जब तक

उसका सम्मान होगा। पाराशरपुत्र व्यासने भी मनुस्मृति और वेद, उसके पहलू, आयुर्वेद, पवित्र इतिहास एवं पुराण का केवल मानवी तर्क से बहस करके उपहास ना करें ऐसा कहा है।

पण्डितों की यह धारणा है की, ब्रह्मा ने उसके पुत्र मनु को यह कानून एक लाख श्लोक के स्वरूप में दिये थे। वह मनु ने आद्य मानव समाज को बताया। आगे भुगपुत्र सुमती को यह श्लोक नारद ने दिये। उनमें से अब केवल २६८५ श्लोक शेष है।

मनुस्मृति पर अनेक मुनियों व प्राचीन तत्ववेत्ताओं ने टिप्पणी की है। किन्तु उन सब में काशी के **'कुल्लूक' भट** के द्वारा किया गया भाष्य संक्षिप्त किन्तु प्रकाशदायी, आडम्बरमुक्त, फिर भी बेहद विद्वत्तायुक्त, गहरा एवं सर्वसंमत है। इस प्रकार का भाष्य अन्य किसी भी ग्रंथकर्ता पर युरोप अथवा आशिया महाद्वीप में आजतक किसी ने नहीं किया।

कुल्लूक भट स्वयं की जानकारी देते हुये समझाते हुये कहते हैं की, वह 'वरेन्द्र' शाखा का ब्राह्मण है एवं उसके पूर्वज बहुत दिन पहले गौड (बंगाल) प्रान्त में स्थायिक हुये थे। फिर भी उसने काशी के पण्डितों के सहवास में गंगा किनारे रहना पसंद किया।

मनुस्मृति का पण्डित की दृष्टि से इतना महत्त्व है की, उसको रटने वाले घराने ने अगर तीन पीढ़ियों तक उसको रटना बंद कर दिया तो उस घराने का 'ब्राह्मणत्व' छिन जाता था। मनुस्मृति की शिक्षा उन घरानों में केवल शिष्यों को ही दी जाती थी। इसलिए कुल्लूक भट भी मुझे सिखाने के लिए एक शर्त पर तैयार हुआ यदि मैं (Sir Willian Jones) उसका नाम किसी को भी ना बताऊँ। इस ग्रंथ को इतना पवित्र माना गया था की, जब बनारस नेटिव्ह चीफ मैजिस्ट्रैट ने उसके हाथ के नीचे काम करनेवाले मुंशी को (सभी ब्राह्मण) मनुस्मृति की पर्शियन भाषा में प्रतिलिपि प्राप्त करने के आदेश दिये तब उन्होंने वह काम करने से साफ इन्कार कर दिया। अंत में गया के एक रईस ने उसके आश्रित ब्राह्मण से यह काम मेरे लिये मरे मित्र मि.लॉ के अनुरोध पर करवा लिया।

मनुस्मृति के भाष्य का अनुवाद (अंग्रेजी) युरोप के वकील एवं पुरातत्त्ववेत्ता को बेहद आकर्षक लगेगा। उसमें अनेक सौंदर्य स्थल है उसी प्रकार अक्षम्य दोष भी है।

मनुस्मृति की तत्वप्रणाली तानाशाही की कार्यपद्धति एवं धूर्त पुरोहितशाही का खुंखाँर मिश्रण है। इस प्रणाली में उपरोक्त दोनों का एक दूसरे पर नियंत्रण तो है ही साथ में वे एक दूसरे को परिपुष्ट भी करते हैं। मनुस्मृति की कानून प्रणाली बढ़ाई खोर होकर काल्पनिक युक्तिवाद पर निर्धारित, आलसी अंधश्रद्धा पालनेवाली, बेहद अलंकृत एवं अस्पष्ट है। इसलिए उसका खौफनाक तरीके से दुरुपयोग हो सकता है। वह बेहद छोटी छोटी औपचारिकता के शिकंजे से कसी हुई एवं बेतुकी व बालिश संस्कारविर्धीनी है। उसमें बताये गये अपराध की सजा भेदभावमूलक और मनमौजीयुक्त है। फिर भी उसमें पूर्ण मानव जातिका कल्याण एवं सम्पूर्ण प्राणियों बाबत मन का कोमलभाव दिखाई देता है। उसकी भाषा उपयुक्त और कानून का भय व्यक्त करनेवाली थी।

संक्षेप में, मनुस्मृति के कायदे भारत समान आध्यात्मिक एवं तात्त्विक समृद्धी के समाज में **ईश्वरी आदेश** ही मानते है। इसलिए करोड़ों भारतीय जनता का जिसपर हमें राज करना है, युरोप व ब्रिटन के राजकीय एवं व्यापारिक लाभ का विचार किया तो हम भी इन कानून की जितना हो सके उतनी धारा को बरकरार रखना चाहिये। क्योंकि भारतीय जनता के लिए वह पवित्र तो है ही बल्कि उन्हें इसी प्रकार के कानून का आकलन होता है। ब्राह्मण को सत्ता के बदले महज उनके जीवन की, सम्पत्ति की और धर्म की सुरक्षा की ही ब्रिटन से अपेक्षा है।

कलकत्ता
विल्यीयम जोन्स,
इ.सन.१७९६

मनुस्मृति की प्रस्तावना : एक तार्किक चिंतन

–न्या.पी.बी.सावंत
(पूर्व न्यायाधीश, सर्वोच्च न्यायालय)

भारतीय संविधान २६ जनवरी, १९५० को अमल में लाया गया। किन्तु आज भी हजारों सालों पहले लागू की गई मनुस्मृती ही सर्वत्र हिन्दू समाज की राज्यघटना के स्वरूप में मौजूद है। फिर वो खाप पंचायत हो या ग्राम पंचायत हो। इतना जबरदस्त दबाव मनुस्मृती का इस देश पर है। और कितने साल इसका अमल समाज पर चलता रहेगा यह बताना मुश्किल ही है।

इ.सन १७९२ में कलकत्ता के सर विलियम जोन्स ने, कुल्लुक भट से मूल मनुस्मृति को सुनकर उसका क्रमशः अंग्रेजी अनुवाद किया था। यह किताब पहली बार अंग्रेजी में पुस्तक रुप में लंदन से प्रकाशित हुई थी। उस मूल अंग्रेजी ग्रंथ की प्रति आज भी कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षीत है। उस मूल मनुस्मृति का मराठी अनुवाद प्रा. विलास खरात एवं पु.श्री. सदार (सिंधु लिपि के प्रथम वाचक) ने किया है। और प्रस्तावना न्यायमूर्ति पी.बी.सावंत (पूर्व न्यायाधीश, सर्वोच्च न्यायालय) ने की है।

उस ग्रंथ की प्रस्तावना का हिदी अनुवाद यहाँ पाठकों को प्रस्तुत किया गया है।

इस किताब को मूलनिवासी पब्लीकेशन ट्रस्ट, पुणे ने प्रकाशित किया है। –संपादक

ऐसी मनुस्मृती कब निर्माण हुई? किसने निर्माण की? और किसलिए निर्माण की गई? इस बाबत आज भी संदेह है। हिंदू धर्मीय के अनुसार अर्थात ब्राह्मण के अनुसार एवं मनुस्मृती के प्रथम अध्याय में कहे अनुसार- मनुस्मृती का अर्थ **'धार्मिक कानून'** है, जो मनु ने बताये हैं। वह भी 'देव' लोक से जब कुछ ऋषी उसके पास गये और उन्होंने उसे चार वर्णों से धार्मिक कानून का पालन कैसे व किस क्रम से व कितने कम-ज्यादा प्रमाण में हो यह बताने का अनुरोध किया इसलिए मनुने इसे बयान किया है। इसका अर्थ यह चार वर्ण मनुस्मृति के पहले से अस्तित्व में थें ऐसा होता है एवं ब्राह्मणों के अनुसार मनु यह मानव जाति का प्रथम 'पिता' है और उसने ही दुनिया के नियंत्रण की कायदे-संहिता बनाई यह दावा झूठा साबित होता है। अब मनुस्मृति के काल में संदेह है। क्योंकि मनुस्मृति के अनुसार चार वर्ण इस स्मृति ने बनाये किन्तु गीता के अनुसार चार वर्ण भगवान कृष्ण ने बनाये हैं। इस उत्पत्ति को खुद कृष्ण के मुख से ही उजागर किया गया है। मनृस्मृति में ही पौराणिक काल की कुछ घटनाओं का जिक्र किया गया है। इसका अर्थ मनुस्मृति इस घटना के पश्चात् निर्माण हुई है। तब मनु यह मानव जाति का 'पिता' है यह दावा भी पूर्णतः झूठा ही साबित होता है। मनुस्मृति की उत्पत्ति के काल बाबत यह जिस तरह से संदेह है उसी प्रकार वह किसने निर्माण की है इस बाबत भी किवदंतियाँ ही मनुस्मृति में सर्वत्र दिखाई देती है। एक तो मनु यह सम्पूर्ण विश्व का तथाकथित निर्माता 'ब्रह्मदेव' का पुत्र है ऐसा कहा गया व इस ब्रह्मा ने मनु को यह कानून एक लाख श्लोक के स्वरूप में दिये थे यह भी प्रतिपादन किया गया और वही मनुने आदि मानव समाज को बताया ऐसा भी कहा जाता है। इससे 'मनुस्मृति' मनुने निर्माण नहीं की है यह अपनेआप ही सिद्ध होता है। इसके अलावा इस स्मृति में जगह जगह 'पहले से चल रही

विधिसंहिता, परम्परा एवं रिवाज और संस्थान' का जिक्र मौजूद है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि, मनुस्मृति में निर्देशित कानून यह मनुने निर्माण नहीं किये बल्कि मनु के पहले से (जिसका काल निश्चित नहीं कर सकते) चल रहे थे। इसका अर्थ मनु ने यह कानून निर्माण नहीं किये, मनुने **उक्त काल में प्रचलित सामाजिक नियम एकत्र करके यह संहिता निर्माण की है।**

इस स्मृति में उद्धृत किये नियम किस प्रयोजन से तैयार किये गये थे? इसका हल खोजना कठिन नहीं है। एक तो इस धरती पर सम्पूर्ण साधन-सम्पत्ति का मालिकाना अधिकार कुछ मूट्ठीभर लोगों के हाथ में स्थायी रुप से रखने का प्रयोजन इस नियमावली में स्पष्ट रुप से दिखाई देता है। इसलिए चार वर्ण जानबुझकर तैयार किये गये हैं और **उनमें से उच्च वर्ण ब्राह्मण को इस साधन-संम्पत्ति का 'इकलौता मालिक' घोषित किया गया है।** यह जाति भी जन्मपर निर्भर है और वह परिवर्तनशील ना हो इसका भी ध्यान रखा गया है। इन जातियों को जन्म से कारोबार आवंटित किया गया एवं अंत में ब्रह्मा के पैर से निर्मित 'शूद्र' जाति अन्य की सेवा के लिए स्थायी रुप से निर्धारित की गई। इसके अलावा सम्पूर्ण जाति की स्त्रियों को (ब्राह्मण स्त्री सम्मिलित करके) 'शूद्र' का ही स्थान दिया गया एवं उसके कार्य को महफूज रखना और पुरुष की सभी प्रकार से सेवा करने के लिए ही उसे सीमित किया गया। दरअसल, शूद्र समान स्त्रियों ने भी बगावत करके मनुस्मृती दहन करनी चाहिए थी। किन्तु उन्हें सही मार्गदर्शक ही नहीं मिला और यह ना होने के पीछे एक कारण हो सकता है। दरअसल मनुस्मृती ने **पितृवंश पद्धति** समाजपर लादी थी और पहली **मातृवंश पद्धति** को नष्ट कर दिया था। (आज भी मातृवंश पद्धति अवशेष स्वरुप में कुछ स्थानों, केरल एवं आदिवासी समाज में विस्तृत प्रमाण में मौजूद है।) इसलिए स्त्रियों ने मनुस्मृती द्वारा लादी हुयी पद्धति के खिलाफ बगावत करना जरूरी है। किन्तु ऐसा नहीं हो सका। इसके पीछे उस वक्त उच्च वर्णीय ब्राह्मण पुरुष की सशस्त्र एवं धार्मिक तानाशाही निर्माण होने की गहरी संभावना है। उसमें अन्य उच्च वर्णियों का बड़ा हिस्सा होने की संभावना है। इसलिए चातुर्वण्य और स्त्रियाँ एवं शूद्र की गुलामी समाजपर लादना संभव हो सका। उस वक्त लादी गई पुरुष सत्ता पद्धति शूद्र एवं स्त्रियों की आज की गुलामी की अवस्था का कारण है।

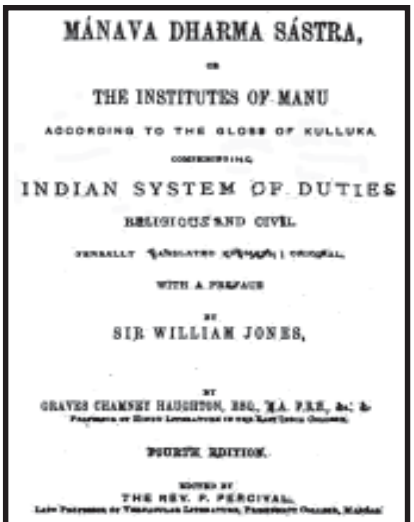
MÁNAVA DHARMA SÁSTRA,

OR

THE INSTITUTES OF MANU

ACCORDING TO THE GLOSS OF KULLUKA

COMPREHENDING

INDIAN SYSTEM OF DUTIES

RELIGIOUS AND CIVIL

WITH A PREFACE

BY

SIR WILLIAM JONES,

BY

GRAVES CHAMNEY HAUGHTON, ESQ., M.A. F.R.S., &c. &c.

FOURTH EDITION.

EDITED BY

THE REV. P. PERCIVAL,

सर विल्यीयम जोन्स ने मूल मनुस्मृति को सुनकर सन १७९२ में संस्कृत से अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया था। उसी मनुस्मृति की अंग्रेजी हस्तलिपि की प्रति आज भी कलकत्ता के राणी व्हिक्टोरिया पैलेस में गवाह के रुप में मौजूद है। उसकी यह छायांकित प्रतिलिपि।

मनुस्मृति ने **मानव के इतिहास में अगर सबसे बड़ी अहितकर बात की होगी तो वह यह है की, उसने सभी प्रकार की गुलामी को बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक दैवी आधार निर्माण कर उसका एहसास गुलामों को कभी भी ना हो सके इसलिए उनपर ज्ञानार्जन की धार्मिक बंदी लादी गई।** इस एक ही बंदी से मुट्ठीभर उच्चवर्णीय इस अमाप विस्तृत समाजपर

हजारों सालों से राज कर सके। समाज को जातिनुसार विभाजित करके और प्रत्येक जाति में निर्माण हुई सैंकड़ों उपजातियों से अन्य समाज कभी भी एकसंघ ना हो सके ऐसी कसकर बाँधी हुई प्रणाली इस स्मृति ने निर्माण करके रखी। इसलिए इन मुट्ठीभर की प्रबलता सैंकड़ो सालों से अबाधित रह सकी। **समाज की इसतरह रचना करने का विचार विश्वभर में अन्यत्र किसी के भी दिमाग आया नहीं यह मनुस्मृति रचनाकार की खास बात है!** विशेष तौर पर यह जाति जन्मपर निर्भर करने से मनुष्य धर्म बदल गया फिर भी उनकी जाति आज भी बदली नहीं है। इसलिए जो-जो हिंदू, इस्लाम, ख्रिश्चन, सिक्ख, बौद्ध धर्म में गये वे सभी अपनी जाति भी उस धर्म में लेकर गये। यह हमारे देश की कुल समाज की शोकान्तिका ही है। **मनुस्मृति का यह ऐतिहासिक प्रभाव हमें जाने बगैर इस देश में समाज क्रान्ती गढ़ने के परिपूर्ण हल हमें प्राप्त नहीं हो सकेंगे। भारतीय घटना अंमल में आने के बावजूद भी आज तक समाज में कोई भी परिवर्तन क्यों नहीं हो सका इसका कारण मनुस्मृति ने निर्माण किये हुये इस घातक समाज रचना में है।**

इसलिए इस देश की सामाजिक विषमता अगर नष्ट करनी हो तो केवल वंचित समाज समूह की आर्थिक एवं शैक्षणिक प्रगती होकर नहीं चलेगा वह होनी ही चाहिए किन्तु इसके साथ **सम्पूर्ण समूह को कम से एक ही सांस्कृतिक सतह पर आना चाहिये। आर्थिक एवं शैक्षणिक प्रगती यह सांस्कृतिक प्रगती की नींव है।** इस सम्पूर्ण समाज समूह में नित्य नियम से खुलेआम बेटी व्यवहार के बगैर सामाजिक प्रचलन एवं एकता निर्माण नहीं हो सकती और जातिव्यवस्था नष्ट नहीं होगी। जातिव्यवस्था नष्ट होकर सामाजिक एकता निर्माण होने के लिए सम्पूर्ण समाज समूह समान सांस्कृतिक सतह पर एकत्रित होना यही एक हल है। मनुस्मृति रचित सामाजिक ढांचा इस देश को जकड़कर रखनेवाली एक लम्बी 'बीमारी' है। इसलिए इस बीमारी पर यह एक ही प्रदीर्घ हल है। यह जानकर समाज प्रमुखों ने उस ओर कदम बढ़ाने चाहिए। महज कानून करके या क्रान्ति करके इस सवाल का हल नहीं मिलने वाला है।

(**अनुवाद** : प्रतिभा)

दिदरो और विश्वकोष

एनसाइक्लोपीडिया (विश्वकोष) एक प्रकार से ज्ञान का कोष माना जाता है, जिसमें जानने योग्य हर विषय पर जानकारी के लेख उपलब्ध होते हैं। आज तो विविध विषयों पर भी विश्वकोष उपलब्ध हैं पर १८ वीं शताब्दी में दिदरों ने एक तरह से पहला प्रयास किया। उसने न केवल ज्ञान की विविध शाखाओं पर जानकारी संकलित की, उसमें प्रबोधन-काल की नई व्याख्याएं भी शामिल कीं। यह प्रयास कितना महत्त्वपूर्ण था इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि फ्रांस की सरकार ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया और विश्वकोष की प्रतियां जलाई जाने लगी। इस संकलन ने तत्कालीन मध्य वर्ग की बौद्धिक भूख को और बढ़ाया और जो स्थापित था उसके अस्वीकार के लिए साहस पैदा किया।

(साभार : फ्रांस की क्रांति-लाल बहादुर वर्मा)

जन इतिहास : क्या–क्यों–कैसे

–लाल बहादुर वर्मा

जन कथा जन इतिहास का विकल्प नहीं हो सकती। उसे भी लिखा ही जाना चाहिए जैसे हेराल्ड जिन ने अमरीका का जन इतिहास लिखा है और क्रिस हरमन ने विश्व का जन इतिहास लिखा है। इसलिए उस जन इतिहास को भी जान लें जिसकी अनिवार्य जरूरत यह जन कथा चिन्हित करेगी।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (हिस्टारिकल मैटीरियलिज्म) को वास्तव में जन इतिहास को ही चिन्हित करना चाहिए। पर विडम्बना यही है कि वैज्ञानिक कही जाने वाली विचारधारा की तरह वैज्ञानिक कहे जाने वाले इतिहास में भी ढेरों मतभेद उजागर होते हैं। कारण यह है कि मार्क्सवादी अर्थव्यवस्था और राजनीति में सत्ता–संघर्ष केंद्रित बना दिया गया और **मार्क्सवादी इतिहास भी तमाम दावों के बावजूद मुख्यतः आर्थिक–राजनीतिक इतिहास ही बना रहा है** और उसमें भी देश और अपनी ही विचारधारा की प्रमुखता बनी रही है, वस्तुनिष्ठता के तमाम दावों के बावजूद।

वास्तव में इतिहास की विषयवस्तु मानव–समाज है, उसी तरह जैसे भौतिकी की विषयवस्तु पदार्थ (मैटर) है। किसी देश, किसी समस्या, किसी घटना या किसी व्यक्ति के भी **इतिहास का परिप्रेक्ष्य वैश्विक ही होना चाहिए।** दूसरे, मनुष्य और समाज जैसे जटिल और विविध परिघटना का कभी कोई आयाम प्रमुख हो सकता है। पर उसके समस्त कार्यकलापों और जटिलताओं को अधिकाधिक समेटने वाली श्रेणी **सांस्कृतिक** ही हो सकती है। इसलिए इतिहास के जनक की तरह विख्यात **हेरोदोतस से मार्क्स** तक ने जिस मानव समाज के 'यूनीवर्सल' पक्ष को देखा है उसे समेट पाने के लिए बेहद व्यापक वैश्विक दृष्टिकोण ही अधिकाधिक न्याय कर सकता है। तभी तो फ्रांस में **'अनाल स्कूल ऑफ हिस्ट्री'** विकसित हुआ जो उन सीमाओं से इतिहास को उबारने की बात करता था जिसमें इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या फंस गई लगती थी। भारत में भी **'सबाल्टर्न हिस्ट्री'** के प्रवक्ताओं ने कहा कि निम्न श्रेणियां इतिहास में उपेक्षित रह जा रही हैं। इसलिए **'हिस्ट्री फ्राम बिलो'**, नीचे से इतिहास, शुरू किया जाय तो यह कमी पूरी हो सकती है हम इस पुस्तक की सीमा को देखते हुए इन विवादों की तह तक नहीं जा सकते पर यह जरूर कह सकते हैं कि ये प्रयास सफल नहीं हुए और मार्क्सवादी इतिहास के पूरी तरह पूरक भी नहीं बन सके।

हाल ही में क्रिस हर्मन ने विश्व का जन–इतिहास लिख कर एक मॉडल प्रस्तुत किया है जिस पर हर्मन का त्रात्स्की पंथ हावी है। फिर भी जन इतिहास लिखने का वह एक अच्छा प्रयास है।

बस हम इतना कहना चाहते हैं कि हमारे जन इतिहास की अवधारणा में इतिहास का न कोई नायक हो सकता है न खलनायक क्योंकि नायक **तो जन यानी समष्टि** ही है। इसका मतलब यह नहीं कि किसी व्यक्ति की सकारात्मक या नकारात्मक भूमिका पर बल नहीं दिया जाना चाहिए। ऐसा करते वक्त यह दिखाना आवश्यक है कि सकारात्मकता या नकारात्मकता की चालक शक्तियां कौन सी हैं जो निश्चित ही देश–काल में प्रवाहित मिलेंगी।

दूसरे, तमाम उत्थान–पतन के बावजूद मानव समाज प्रगतिपथ पर अग्रसर दिखाई दे रहा है। इसलिए अतीत में कोई अंधकार युग या स्वर्ण काल नहीं हो सकते। ये सापेक्ष मूल्यांकन है। यूरोप के मध्यकाल को अंधकार का युग कहा गया पर उसी दौरान फ्रांसिस बेकन, अबेलार और दांते जैसे लेखक और गोथिक जैसी शैली रची गई। उसी तरह इंग्लैंड के एलिजाबेथ और भारत के गुप्त सम्राटों के काल को स्वर्णकाल कहने जैसा सरलीकरण किया जाता है पर उन कालों

के नकारात्मक उद्विकास पर पर्दा नहीं पड़ता। इसलिए जन इतिहास अपने वैश्विक परिप्रेक्ष्य में निरन्तर प्रगतिशील है।

मानव समाज को कौन कहे स्वयं मानव इतना जटिल प्राणी है कि उसे समग्रता में उजागर कर पाना, खास तौर पर उसके अतीत को, असंभवप्रायः है। उसे समेटने की कोशिश की जाती है तो कोई न कोई सरलीकरण हो जाता है। निर्णायकता को मानक मानें तो मतभेद पैदा हो जाते हैं और 'इकानॉमिक मैन' या 'पोलिटिकल मैन' प्रमुख बन जाते हैं। वास्तव में 'कलचरलमैन' भी 'मैन' का सर्वांगीण वर्णन नहीं है। फिर भी यथासंभव महत्तम समापवर्तक (हाइएस्ट कामन डिनामिनेटर) तो ढूंढ़ा जा सकता है। अगर समष्टि का परिप्रेक्ष्य बनाए रखा जाय और निरंतर गतिशीलता को ओझल न होने दिया जाय तो अधिकाधिक स्वीकार्यता बनाई जा सकती है।

अंत में यह तो ध्यान रखना ही होगा कि **इतिहासकार को कभी 'हिज़ मास्टर्स वायस' नहीं होना चाहिए यानी किसी पूर्वग्रह-राजनीतिक, सांस्कृतिक या आर्थिक, के वशीभूत होकर नहीं करनी चाहिए अतीत की पुनर्रचना**। वह पूरी तरह वस्तुनिष्ठ तो नहीं हो सकता पर यथासंभव तथ्यपरक वस्तुनिष्ठता का प्रयास तो होना ही चाहिए।

अन्त में, **इतिहास की सबसे बड़ी भूमिका इतिहास निर्माण के लिए ही होती है।** हमारी दृष्टि में जन ही इतिहास का निर्माता है इसलिए जन इतिहास जन के लिए अपने इतिहास के निर्माण में उत्प्रेरक की भूमिका निभा सकता है। यह तभी हो सकता है जब इतिहास जन के लिए विवेक बन सके (हिस्ट्री इज द ओनली विज़डम) और विवेक का आधार वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन और जनकल्याण ही हो सकता है।

यह तो रही जन इतिहास की संक्षिप्त रुप रेखा। हम यह भी नहीं कर सकते पर इसे उस क्षितिज की तरह देखते हैं जिस तक कभी पहुँचा नहीं जा सकता, क्योंकि पहुँचने पर वह आगे बढ़ जाता है। फिर भी हम जन इतिहास का परिप्रेक्ष्य सामने रखकर जनकथा ही कहने का प्रयास करेंगे। क्योंकि जन इतिहास भी होता तो इतिहास ही है और उसकी अपनी पद्धति और परिप्रेक्ष्य हैं, अपने नियम और मर्यादाएं हैं, जिनका अनुपालन अनिवार्य है। हम उस सबका निर्वाह कर पाने में अपने को असमर्थ पाते हैं। इसलिए उससे इतर उद्यम को हाथ में लेकर अपने को एक तरह की जनकथा तक सीमित रखना चाहते हैं। यह जिम्मेदारी से भागना नहीं है। हर व्यक्ति की अपनी सीमाएं होती हैं और हर व्यक्ति हर काम को अंजाम नहीं दे सकता। पर जनकथा कहना भी एक जिम्मेदारी का काम है और इसे हम पूरी जिम्मेदारी के साथ करने का प्रयास करेंगे।

अब आप मानेंगे कि नहीं कि इतिहास का एक यह भी स्वरूप है या यह कि इतिहास का यही स्वरूप होना चाहिए।

क्यों : इतिहास का जो स्वरूप प्रचलित है वह वास्तव में समस्त ज्ञान-विज्ञान की तरह जन के हित में नहीं है। कारण यह कि समाज को जो शक्तियाँ चला रही हैं उनकी नीयत खराब है और वह किसी भी कीमत पर जो भी उपलब्ध है उसका तात्कालिक लाभ केवल अपने और अपनों के हित में उठाना चाहती हैं। हालाकि धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि उनकी इतनी आत्मकेंद्रिता आत्मघाती सिद्ध हो रही है पर वे अब अपने ही रचे दुष्चक्र से मुक्त होने में समर्थ नहीं हैं।

इस देश में एक बहुत शक्तिशाली मिथक हनुमान का है। सीताहरण के बाद राम बंदरों की, यानी उपेक्षित जनों की, सेना ले देश के दक्षिणी धुर पर पहुँचे तो तीन ओर लहराते सागर को देख सभी हताश बैठ गए। उस वक्त जामवंत ने हनुमान को उनकी शक्ति की याद दिलाई कि वह तो सूर्य को भी लील जाने में समर्थ हैं। उसके बाद हनुमान भूधराकार होकर अपने

महाबली के चरित्र में लौट आए। जनमानस के लिए **इतिहास जामवंत का काम कर सकता है,** जनशक्ति का बोध करा कर। वास्तव में जन इतिहास ही इतिहास है पर शासकों ने इतिहास को **'हीरोज़ हिस्ट्री'** बना रखा है और जनतंत्र के युग में भी बात चाहे जितनी 'पीपुल्स साइंस' और 'पीपुल्स हिस्ट्री' की कर ली जाय वास्तव में **'पीपुल्स एम्पावरमेंट'** हो नहीं पा रहा है। इसलिए तात्कालिक लाभ का लोभ त्यागकर **एक लम्बे जन उद्वेलन को 'इगनाइट' करने की आवश्यकता है** और उसके लिए जन-इतिहास के लेखन को जनचेतना के सृजनशील विस्तार के एक लगातार बढ़ते जाने वाले कार्यक्रम के रूप में शुरू करना होगा।

इसलिए जन इतिहास अकादमिक प्रपंच से दूर बिना किसी दावे के 'ग्रासरूट' स्तर पर एक छोटी सी पहल के रूप में किया गया काम है। अगर जन कार्यवाही के अन्य अनिवार्य आयाम सक्रिय नहीं होते तो इसका अकेले कोई बड़ी प्रभाविता नहीं दिखाई देती पर अकेले भी यह इतिहास कुछ लोगों को नया परिप्रेक्ष्य दे सकता है। यदि इतना भी हुआ तो इस रचना का औचित्य प्रमाणित हो जाएगा, इतना भी नहीं हुआ तो इसके लेखन के दौरान जो आंख खुलती गई है वह तो जीवन पर्यन्त और देख-समझ पाने की दृष्टि में सम्पन्नता तो दे ही चुकी है। इतना क्या कम है?

हम इस काम को अंजाम देने में असमर्थ हैं पर काम तो जरूरी है और कुछ लोग करेंगे ही। तब तक जन कथा से काम चलाने की कोशिश की जाय। **जन कथा-जन इतिहास का विकल्प नहीं-अलग विधा है।** इसलिए इसे भी और विकसित करने की जरूरत है।

अगर आप, थोड़ा बहुत ही सही, सहमत हैं कि जनहित होना चाहिए तो चलिए बाकायदा इसकी झलकियां देखी जायं।

कैसे -अगर जन-इतिहास थोड़ी भिन्न चीज़ है तो उसके स्रोत भी थोड़े भिन्न होने चाहिए। फ्रांस के एक इतिहासकार हुए है सैन्योबो। उनका नारा था 'दस्तावेज़-दस्तावेज़-दस्तावेज़' यानी इतिहास दस्तावेज़ों पर आधारित होना चाहिए। उन्नसवीं सदी में विश्व में सबसे प्रभावशाली इतिहासकार के रूप में स्थापित जर्मन **रानके** ने सारे यूरोप के अभिलेखगारों को छान मारा था और इतिहास को यह स्थापना दी थी-वी एस आइगन्टलिश गेवेसन (wie is eigentlis to geveseen) यानी अतीत 'जैसा कि वह था।' हालांकि यह दावा अविश्वसनीय और गलत था फिर भी इतिहास सुरक्षित दस्तावेजों पर अधिकाधिक आधारित होता गया, विशेष कर आधुनिक इतिहास। भारत में आज भी अधिकांश आधुनिक इतिहास लिखित दस्तावेजों पर आधारित है, वह भी अंग्रेजी में।

दूसरा महत्व पुरातात्विक स्रोतों का रहा है। वे ही इतिहास के सबसे विश्वसनीय स्रोत माने जाते रहे हैं। विज्ञान और टेक्नोलॉजी के इतिहास में बढ़ते प्रयोग का भी लाभ सबसे अधिक पुरातात्विक स्रोतों के खोज और छान-बीन में ही हुआ है। 'मरीन आर्कियालॉजी' ने प्राचीन द्वारका को ढूंढा निकाला है। इससे वास्तव में इतिहास के तथ्य अधिकाधिक प्रामाणिक सिद्ध किए जा सके हैं।

परन्तु जन इतिहास के सबसे बड़े स्रोत वे हैं। जिनकी वैज्ञानिक प्रामाणिकता भले ही संदिग्ध हो उनमें एक भावात्मक प्रामाणिकता होती है। यह स्रोत हैं समकालीन साहित्य और लोक परंपरा तथा मौखिक स्रोत। इनमें जन का अंतस और मनीषा परिलक्षित होती है जन के दुख-सुख, उसकी लालसाएं, महत्वाकांक्षाए। कुछ के लिए इसकी अधिक अर्थवत्ता हो सकती है।

साहित्य कितना भी यथार्थवादी हो वह किसी के द्वारा किसी यथार्थ ही नही फंतासी की भी रचना-पुनर्रचना होता है। उसमें कल्पनाशीलता की बहुत बड़ी भूमिका होती है। वह प्रायः निर्बन्ध होता है। उसमें से किसी देश काल के तथ्यों को छानना भूसे के

ढेर में सुई ढूंढने जैसा होता है। होता यह श्रम साक्ष्य है, पर असंभव नहीं, भूसे के ढेर से भी सुई ढूंढी ही जा सकती है। छलनी बारीक हो और छानने का धैर्य और संकल्प हो तो हो सकता है पहले ही ढेर में सुई छन जाय। बात छानने की नहीं, सुई की है। अगर सुई ही चाहिए–जहां काम आवे सुई कहा करै तरवार–तो उसे ढूंढना तो पड़ेगा ही। साहित्य में जो सूक्ष्म तथ्य मौजूद होते हैं वे किसी भी अन्य दस्तावेज में नहीं मिल सकते। साहित्य में व्यक्ति और परिवेश तथा परस्परता के ऐसे सत्य पिरोए होते हैं कि उन्हीं के अतीत की कथा में जीवंतता और अंतरंगता पैदा हो सकती है और उनके बिना इतिहास सूखा, नीरस और निरर्थक लग सकता है, जैसा कि प्रायः होता है।

लोक परंपरा में लोक अपने ही माध्यम से उपस्थित होता है– अपनी समस्त सीमाओं और संभावनाओं के साथ। उसमें जितनी भी कल्पनाशीलता और तथ्यात्मकता का अभाव हो उनमें लोक की अंतरंग छवि होती है, जिनसे जन अपने को जोड़ सकता है। मौखिक परंपरा में ऐसा बहुत कुछ मौजूद है जो अन्य कहीं उपलब्ध ही नहीं हो सकता। वैसे भी देखें कि जन के बारे में और कौन से दस्तावेज उपलब्ध हैं। दस्तावेज उपलब्ध हैं। दस्तावेज तो अभिजनों द्वारा अपने बारे में रचे जाते हैं। जन का कभी–कभी जिक्र होता है। वह भी हाशिए पर। जन अपनी छवि जैसी भी रचे–जितनी भी सीमित हो, वह अभिजन द्वारा रची छवि की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होगी। वैसे भी यह अगर जाहिर है कि वस्तुनिष्ठ से वस्तुनिष्ठ इतिहास जन मानस को एक सीमा तक ही गढ़ पाता है, वह भी मध्यवर्गीय मानस को ही।

जन इतिहास के स्रोत ही भिन्न नहीं होंगे उसकी अवधारणा भी भिन्न होगी। ऐसे में जन की गतिविधियों की छवि गढ़ने में उसके अतीत की ही नहीं उसके वर्तमान की भी भूमिका की ओर होगा तो अतीत पर वर्तमान की नजर और वर्तमान पर अतीत की प्रेरणा एक दूसरे को प्रभावित करेंगे ही। फिर तो बहुत कुछ ऐसा भी दृष्टिगोचर होगा जो सामान्यतः दिखलायी नहीं देता है।

अब तक प्रचलित इतिहास तो आराम से कुर्सी पर बैठे–बैठे भी लिखा जा सकता है। जन–इतिहास थोड़ी भाग–दौड़ का काम है। इसलिए सभी इसे अंजाम नहीं दे सकते है। यह वही कर सकता है जिसे इस तरह के इतिहास की अंतर्वस्तु और पद्धति में भरपूर विश्वास हो।

तो यह तो हुआ जन–इतिहास का एक परिप्रेक्ष्य उसे सामने रखकर जन–कथा कही जाय तो कुछ तो बात बनेगी।

दहलीज़ लांघना ही अत्याचार का कारण

–डॉ. यशवंत मनोहर

धर्मशास्त्र अर्थात ईश्वर की आज्ञा। धर्मशास्त्र ने हर जाति के लिए सख्ती से सीढ़ीनुमा दहलीज तय करके रखी है। दहलीज अर्थात समाज में व्यक्ति का स्थान अथवा निर्धारित जगह। सीढ़ी के पायदान की समांतर सतह कभी नहीं होती। एकदूसरे के सिर पर इनकी रचना होती है। इसी तरह हमारे देश की समाजरचना ढलान की ओर है। यह अहानिकारक नहीं है। उसमें चरम सीमा तक घृणा है, द्वेष है। हर पायदान अहंकार से दहकती हुई ज्वाला की सिरे पर खड़ी है। एकदूसरे को निरंतर घायल करने वाली इन पायदान की शास्त्रसम्मत विषम रचना का एक तत्वज्ञान है। एक पायदान का स्थान बदलना दूसरे पायदान को कतई मंजूर नहीं है। जो पायदान अपना स्थान छोडने की कोशिश करता है उसका हाल खैरलांजी, धाकली, शिरसगाँव, गोसाना, मिर्चपुर या खर्डा समान होता है। १९५० में इन सभी पायदानों को ध्वस्त करने वाला संविधान इस देश में लागू हो गया फिर भी इस देश के लोगों के मन के गहराई से यह नष्ट नहीं हो रहा है। पायदान छोडने वालों पर अत्याचार रोके नहीं रुक रहा।

संविधान का सहारा लेकर इस देश के 'नही रें' वाला समूह दहलीज़ लांघने की कोशिश करता है तो उनपर अत्याचार होता है। जो मनुष्य निर्धारित पायदान छोड़ते हैं और उन्हें मौत कुचल देती है। दहलीज़ तय करने वाला धर्म और दहलीज़ ध्वस्त करनेवाला संविधान इनमें से किसका चयन करें इस बाबत फैसला करना इन धर्मनिष्ठों को नहीं आता है। अभी तक फैसला करना आया ही नहीं। इसलिए जात, वर्ग एवं लिंगभाव इन तीनों के संदर्भतले जालिम जहर भारतीय समाज में खंगालकर बहता हुआ दिखाई देता है। यह संविधानद्रोही, मानवताद्रोही और स्थितिशील वास्तव बदलने की दृढ़ कोशिश आजतक किसी भी राजनीतिक ने नहीं की है। उलटा इस वास्तव को खाद डालने का कार्य ही साहित्य के साथ-साथ अलग अलग सामाजिक, राजकीय और धार्मिक प्रणाली ने किया है। इस देश के तत्त्वज्ञानियों ने एवं रुढ़ी-परम्पराने इस दहलीज़ की पवित्रता ही लोगों के दिमाग में ठूसकर रखी है। इसलिए मनुष्य तोड़नेवाली दहलीज़ परमश्रद्धा का अथवा अहंकार का विषय बन गई और दहलीज़ लांघने मनुष्यों को मौत के हवाले कर दिया गया। लोगों के दिमाग पर यही कुरेदा गया कि दहलीज के भीतर रहनेवालों को ही मोक्ष प्राप्त होता है और दहलीज़ लांघनेवालों को नरक प्राप्त होता है। इस तत्त्वज्ञान ने लोगों के साथ छल ही किया है। किन्तु लोगों ने इस झूठे तत्त्वज्ञान की सुनकर और दहलीज़ कहने वाले लोकायत को और बौद्ध भिक्खूओं को जलाया। दहलीज़ लांघने वाले शम्बुक और एकलव्य का क्या हाल हुआ? दहलीज़ लांघने को कहनेवाले सावित्रीमाई फुले से कितना छल किया गया और जोतीराव फुले को क्या भुगतना पडा यह सभी को पता है। दहलीज़ लांघने को कहने वाले और दहलीज़ लांघने वाले लोगों के हिस्से यही तुच्छता और इसी तरह की मृत्यु को गले लगाना पड़ा।

इस दहलीज़ की शोहरत किसने बढ़ाई? दहलीज़ के ये संस्कार दहकते रहें ऐसा पुख्ता इंतजाम किसने किया? इस दहलीज़ के अहंकारी पवित्रता की वजह से अब तक हम हमारे लोगों के मन में और व्यवहार में संविधान की स्थापना नहीं कर सके। **दरअसल अत्याचार दलितों पर नहीं होते हैं। दलितत्त्व का त्याग करने से होते हैं। दायरा पार करने से होते है।** धर्म से दिया गया दायरा जो निष्ठापूर्वक जतन करता है वह दलित। वह समाजरचना के अंत में है। वह

अंत्यज है। यह उसके तुच्छतादर्शक उपाधि को करनेवालों पर अन्याय नहीं होता है। परिघि के बाहर आज्ञाकारक होना यह अपना दायरा जिसने मान्य कर ली, उसे दलित्त्व प्रदान करने वाला धर्म भी मान्य कर लिया और अपना दायरा जिसने केवल मान्य ही किया नहीं बल्कि वह उसे सिरपर लेकर बैठा उसपर अत्याचार नहीं होता है।

अत्याचार दायरा छोड़नेवालों पर, दलितत्व नकारने वालों पर होता है। दलितत्व भोगनेवाले, धर्मत्यागनेवालों पर होता है। बौद्धों पर होता है। मुस्लिम पर होता है। ख्रिश्चन पर होता है। भटके-विमुक्तपण को अलविदा कहनेवालों पर होता है। आदिवासीपन तयशुदा परिघि त्यागनेवालों पर होता है। नकारी गई स्त्रियाँ जब स्वतंत्रता के पंख लगाकर समता के आसमान में उँची उड़ाने लेने लगती हैं तब उनपर अत्याचार होता है। अपनी गुलामी से निष्ठावान लोगों पर, अपनी परिघि का पावित्र्य जतन करने वालों पर अथवा अपनी गुलामी को पूर्णतया स्वीकार करनेवालों पर कभी भी अन्याय, अत्याचार नहीं होता है। अपने दलित्व से पूरीतरह इमानदार रहनेवालों पर अत्याचार नहीं होता है। जाति की, दायरे की पवित्र समाजरचना तोडनेवाले साहस पर, मानवी हक्क की प्रस्थापना करने का प्रयास करनेवालों पर अत्याचार होता है। जालना जिले में नाणेगाव, कन्नड तालुका की देवपुर, पुणे जिले की चिखली, वाशीम जिले अडोली, श्रीगोंदा तालुका से चिभळे और लिंपणगाँव, और औरंगाबाद जिले के पैठण, सोनई, जामखेड तालुका और अहमदनगर जिले खर्डा इस तरह और अन्य भी अनेक घटनाऐं पिछले दो तीन महिने के भीतर की है। मगरुर जात्यंधों ने किये हुये खून, बलात्कार, मारामारी और आगजनी की यह घटनाऐं है। यह अत्याचार केवल बौद्धोंपर और उनके आसपास जाति पर ही केवल होते है ऐसा नहीं तो मुस्लिम, स्त्रियाँ, आदिवासी इस तरह के दायरा लांघनेवाले, मनुष्य बनकर जीने का हक साबीत करने वाले अनेक लोगों पर होता है। यह अत्याचार शहर में भी होते है और गाँव में भी। जमीनदार, प्रधान किसान, गाँव के मध्यमवर्गीय जात्यंध, मध्यमजाति के जातिय अहंकार से दहकते हुये लोग, राजकीय सत्ता से संबंधित और सत्ता का संरक्षण प्राप्त लोग ही यह अत्याचार करते है। जाति का राजनैतिक सत्ता से सम्बन्धित और सत्ता का संरक्षण प्राप्त लोग ही इस तरह अत्याचार करते है। जाति के राजनीतिक का संरक्षण प्राप्त होने से अत्याचार करनेवाले सहीसलामत बरी होते हैं अथवा बेहद कम, ना के बराबर सजा होती है। सैंकड़ों सालों से फले-फुले यह जातिय अहंकार गाँव में विशेष दबाव डालते हैं। कल तक हुकुम की ताबेदार, झूककर सलाम करने वाले लोग, पढ़ रहे हैं, नौकरी कर रहे हैं, उनसे भी आगे निकले जा रहे हैं। इसलिए यह मध्यम जातिय अहंकार और भी ज्यादा चौकन्ना हो रहा है। फिर आरक्षण पर गुस्सा उतारा जाता है। धर्मत्याग की घटनापर गुस्सा उतारा जाता है। राजाकरण से हद्दपार करना, नौकरी में अवसर नकारना, सामूहिक बहिष्कार करना, खेती-बाडी हजम करने का प्रयास करना, जातिवाचक गालीगलौच करना यह सब करके यह लोग अपना जातिय अहंकार को खुजलाते है। देशभर इन लोगों के बदन में अब जाति का जहर फुत्कारने लगा है। कल तक झुकने वाले लोग सीना तानकर चलें यह उनके लिए यातनादायक हो रहा है और इसलिए इस अहंकार जाति ने इस अत्याचार का अभियान अधिक तीव्र किया है। निचले स्तर के लोग मेहनत-मशक्कत से काबिलियत प्राप्त करके आगे बढ़ रहे है इस तरह हालातों में बदलाव उनके बौने मन को सहा नहीं जा रहा है और वे खौल रहे है।

आज देश में कन्सन्ट्रेशन कॅम्प की लहर आयी हुई है। बेहद छल करने वाला कारागर का स्वरुप इन जातियवादीयों ने देश को प्राप्त करके दी है। हिंदुस्तान, भारत और इंडिया इस तरह के तीन देश आज इस देश में मौजूद है और संविधान ने जिसे भारत कहा था उस

भारत पर बाकी के दो देश अत्याचार कर रहे है। यह सब रोकना होगा तो जिन्हें संविधान का भारत बचाना है उन्हें एक होना जरुरी है। जातिविहीन, वर्गविहीन और लिंगभावविहीन भारत, यह स्वप्न प्रत्यक्ष में लाना हो तो सम्पूर्ण वामपंथी, सेक्युलरने, मुस्लिम-ख्रिश्चनोंने, भटके-विमुक्तोंने, आदिवासियोंने सभी स्त्रियाँ और बौद्धों ने एकजूट होने का संकल्प करना चाहिये। तुम विभाजित हो गये हो इसलिए तुम भेड और बकरी बन चुके हो। तुम सब एकजूट हो जाओ और तुम बाघ बन जाओगे, शेर बन जाओगे। और डा. बाबासाहब आम्बेडकर का 'बली बकरे की दी जाती है, बाघ की नहीं' यह क्रांतिविधान प्रत्येक ने अपने कलेजेपर तराशकर रखना चाहिये। जाति, लिंगभाव और वर्ग यह देश तोड़ने वाले हथियार हैं। यह हथियार तोडनेवाली शक्ति तुम एकजूट हो गये तो तुम में भी आ सकती है। तुम एकजूट हो गये तो तुमपर होने वाले अत्याचार थम जायेंगे। तुम बचोगे तो भारत बचेगा। तुम्हें, तुम्हारे इन्सानियत को समृद्ध बनानेवाला भारत बचेगा। संविधान की तरफसे उलटा दो, पलटा दो यह पायदान की रचना। तुम्हें पायदान बनने से तुम्हें आदिअंत में भारतीय होने का देखने के लिए भारतीय संविधान तरस रहा है। अपने ही सुंदर और समर्थ मानवी सम्मान के लिए भारतीय संविधान का हम सम्मान करते है।

इतिहास संदेश का मकसद

इतिहास संदेश वास्तव में राष्ट्रीय जन आंदोलन का एक हिस्सा है। राष्ट्रीय जन आंदोलन विचार परिवर्तन का आंदोलन है। विचार ही वह चिकित्सा है जो ८० करोड़ भारतियों को मानसिक गुलामी से छुटकारा दिला सकती है। मानसिक गुलामी एक ऐसी अवस्था है जिसे प्रगट रुप से प्रायः पढ़े-लिखे और अनपढ़ (भी) सहसा स्वीकार नहीं करते है।

ईसापूर्व १८५ से लगातार २५०० वर्षों तक इस देश की सोच को, मस्तिष्क को गुलामी के शिकंजे में अनेक रूपों में जकड़ा गया। बुद्ध, कबीर, नानक आदि और आधुनिक काल में राष्ट्रपिता ज्योतिबा फूले, पेरियार और अंत में डॉ. बाबासाहब आम्बेडकर ने इस गुलामी की जड़ तक पहुँचकर उन मूल कारणों को उजागर किया। उनका मार्ग इतिहास ही था।

सत्ता परिवर्तन (१९४७) के बाद भी एक गुलामी बाकी है। वह २५०० वर्षों की गुलामी से मुक्ती प्राप्त करने की मुहिम ही यह इतिहास संदेश का लक्ष्य है।

जो घटनायें आपके आस-पास घट रही हैं जो घटनायें, विचार, आज आपको दो बारा गुलाम बनाने के लिये घेर रहे है, एक सजग पाठक के नाते उन्हें समझें और कलम चलायें-अपनी टिप्पणियाँ भेजे, फोटो इत्यादि भी भेजें।

इतिहास संदेश एक मुहिम है यह हमेशा स्मरण रखें। इस मुहिम का आप हिस्सा बनिये और अधिक से अधिक लोगों तक इतिहास संदेश को पहुँचाये।

-संपादक

महाभारत : नारी उत्पीड़न का धार्मिक संस्करण

–ईशकुमार गंगानिया

महाभारत के आधार पर स्त्री पक्ष पर विचार करने से पहले यह विचार करना जरूरी महसूस हो रहा है कि महाभारत ग्रंथ कितना प्रासंगिक व विश्वसनीय है। क्योंकि इसके विचारमंथन व मूल्यांकन से स्त्री की जो तस्वीर उभर कर आएगी, वही महाभारत में मौजूद स्त्री पात्रों को विश्वसनीयता व प्रासंगिकता का मापदंड होगी। ''महाभारत की विषयवस्तु के महत्त्व को समझने के लिए प्रकाशकीय वक्तव्य का उल्लेख किया जा सकता है। इसके अनुसार इसे शास्त्रों में पंचम वेद के रूप में अभिहित किया गया है। यह भारत का सच्चा एवं वृहत् इतिहास तो है ही, जैसा कि इसके नाम से ही व्यक्त होता है, साथ ही इसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, योग, नीति, सदाचार, अध्यात्म आदि का अत्यंत विशद एवं सारगर्भित विवेचन है। इसमें एक लाख श्लोक हैं इसलिए इसे शतहास्त्री संहिता के नाम से भी पुकारा जाता हैं।[१]''

यही नहीं महाभारत की विषयवस्तु, इसके रचयिता, इसकी रचना का उद्देश्य और यह कैसे अपने मौजूदा रूप में अस्तित्व में आया, इस पर भी विचार करना जरूरी है। इसके संदर्भ में आगे कहा गया है उन्होंने (वेद व्यास) तपस्या और ब्रह्मचर्य की शक्ति से वेदों का विभाजन करके इस ग्रंथ का निर्माण किया और सोचा कि इसे शिष्यों को कैसे पढ़ाऊं? भगवान व्यास का यह विचार जानकर उनकी प्रसन्नता और लोकहित के लिए ब्रह्माजी के पास आए...। व्यास कहते हैं, ''भगवान! मैंने एक श्रेष्ठ काव्य की रचना की है। इसमें वैदिक और लौकिक सभी विषय हैं। मैंने वेदांग सहित उपनिषद्, वेदों का क्रिया विस्तार, इतिहास, पुराण, भूत, भविष्यत और वर्तमान के वृत्तांत, बुढापा, मृत्यु, भय, व्याधि आदि भाव–अभाव का निर्णय, आश्रम और वर्णों का धर्म, पुराणों का सार, तपस्या, ब्रह्मचर्य, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र और युगों का वर्णन, उनका परिणाम, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वेद, अध्यात्म, न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान, पाशुपात धर्म, देवता और मनुष्यों की उत्पत्ति, पवित्र तीर्थ, पवित्र देश, नदी, पर्वत, वन, समुद्र, पूर्वकल्प, दिव्य नगर, युद्ध–कौशल, विविध भाषा, विविध जाति, लोकव्यवहार और सब में व्याप्त परमात्मा का भी वर्णन किया है।[२]'' इस टिप्पणी से साफ हो जाता है कि महाभारत में उस सब कुछ को समाहित करने की कोशिश की गई है, जिसका अस्तित्व इस लौकिक व पारलौकिक जगत से है, या हो सकता है।

महाभारत के संदर्भ में इसके लिये जाने की अजोबो–गरीब प्रक्रिया का उल्लेख करना भी जरूरी महसूस हो रहा है। ब्रह्माजी ने इसके लिखने के लिए गणेश का नाम सुझाया और व्यास के स्मरण करने पर वे उपस्थित हो गए और व्यास जी ने उनसे कहा– भगवन मैंने मन ही मन महाभारत की रचना की है। मैं बोलता चलता हूं, आप उसे लिखते जाइए। गणेश जी ने कहा, ''यदि मेरी कलम एक क्षण के लिए भी न रुके तो मैं लिखने का काम कर सकता हूं।'' व्यास जी ने कहा, ''ठीक है, किंतु आप बिना समझे न लिखियेगा...। गणेश जी जब एक क्षण तक उन श्लोकों के अर्थ का विचार करते थे उतने ही में महर्षि व्यास दूसरे बहुत से श्लोकों की रचना कर डालते थे।[३]'' पाठकों के लिए यह विचार करने योग्य विषय है कि यह एक क्षण कितनी लम्बी अवधि का था कि इसमें गणेश श्लोकों के अर्थ पर विचार करते और इसी क्षण के दौरान व्यास जी बहुत से श्लोकों की रचना कर डालते थे! विश्वसनीयता की कसौटी पर यह पाठकों को कितना खरा महसूस होता है और कितना नहीं, इसका पता पाठक स्वयं और सहज ही लगा सकते हैं।

इसलिए इस बिंदु पर मुझे टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

अंततः इसके महत्व, उपयोगिता व इसे महाभारत क्यों कहा जाता है, का उल्लेख करने के उपरांत महाभारत से वेद की तुलना के संबंध में क्या कहा गया है, यह जानना भी बड़ा दिलचस्प है- ''देवताओं ने महाभारत को वेदों के साथ रखकर तराजू पर तौला है। उस समय चार वेदों से इसकी महत्ता अधिक सिद्ध हुई है। महत्ता और भगवत्ता के कारण ही इसे महाभारत कहते है।[४]'' अर्थात यह महत्ता की दृष्टि से चारों वेदों से अधिक महत्वपूर्ण है। इस कथन की रोशनी में देखा जाए तो महाभारत के मूल्यांकन से प्राप्त निष्कर्षों को एक प्रकार से वेदों की विश्वसनीयता, उपयोगिता व प्रासंगिकता की कसौटी माना जा सकता है। जितने विश्वसनीय, जनहितकारी और अनुकरणीय महाभारत के निष्कर्ष होंगे उतने ही विशसनीय, जनहितकारी और अनुकरणीय वेदों को माना जाना चाहिए।

जब हम महाभारत का अध्ययन करते हैं और स्त्री पात्रों के संबंध में विचार करते हैं तो पाते हैं कि **महाभारत में स्त्री का जीवन इंसान जैसा नजर नहीं आता। ऐसा लगता है जैसे वह इंसान नहीं बल्कि किसी वस्तु की तरह इस्तेमाल की कोई वस्तु हो।** उसे या तो पुरुष के सैक्स की पूर्ति का साधन या फिर बच्चे पैदा करने का साधन मात्र माना जाता था। महाभारत में स्त्री की स्थिति को समझने के लिए सबसे पहले इसे ऋषियों के संदर्भ में देखना होगा क्योंकि महाभारत में ऋषियों की भरमार है और उनके स्त्रियों से संबंध विवश करते हैं कि ऋषि और स्त्री संबंधों पर अलग से विचार किया जाना चाहिए। स्त्री और ऋषि के संबंधों पर इसलिए भी विचार करना जरूरी महसूस हो रहा है कि यह ऋषियों, साधु-संतों व स्वामियों की परंपरा आज भी स्त्री संबंधों को लेकर विवादों में आती ही रहती है।

सामान्यतः ऋषि होने का तात्पर्य यह माना जाता है कि वह व्यक्ति सांसरिक मोह, काम, क्रोध, लोभ से मुक्त होता है और वह स्वयं के आत्मिक/आध्यात्मिक उत्थान या संसार के कल्याण के लिए समर्पित रहता है, जिसमें उसका अपना कुछ भी नहीं होता। लेकिन पूरी महाभारत में 'ऋषि' सांसारिक व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक काम-वासना का शिकार नजर आता है और उसका क्रोध और अहंकार ऐसा लगता है जैसे उसके पहुंचे हुए ऋषि होने का पैमाना हो। जितना बड़ा तथाकथित ऋषि होगा, उतना ही बड़ा उसके अहंकार व श्राप देने का पैमाना होगा। इस संभावना से पूरी तरह इंकार नहीं किया जा सकता कि ऋषियों के अहंकार और श्राप से बचने के लिए ही राजा अपनी पुत्रियों यानी राजकुमारियों को विवाह या शरीरिक भोग के लिए ऋषियों को दे देते थे। राजकुमारियों का ऋषियों को उनके शरीरिक भोग के लिए दिया जाना एक प्रश्न और खडा करता है कि राजा अपनी पुत्रियों की भावनाओं को कोई तरजीह ही नहीं देते थे वरना राजकुमारियों को ऋषियों को भोग के लिए दिए जाने की अपेक्षा ऐसे ऋषियों को सार्वजनिक तौर पर मृत्यु दण्ड और यातनाओं की परंपरा का विस्तार होना चाहिए था। **यदि ऐसा होता तो आज इक्कीसवीं सदी में किसी आसाराम बापू या नारायण साई जैसों को नाबालिक लड़की के यौन शोषण के लिए गिरफ्तार करने के लिए जोधपुर पुलिस व पूरे देश की जनता को आन्दोलित नहीं होना पड़ता।**

पूरी महाभारत में यह बीमारी देखने को मिलती है कि एक ओर तो व्यक्ति ऋषि है और दूसरी ओर वह कई-कई पत्नियों का भोग करता है, खूब बच्चे पैदा करता है और फिर भी वह ऋषि बना रहता है। महाभारत में ऐसे भी बहुत से किस्से हैं जहां ऋषि बिना विवाह के ही राजकुमारियों से संतान उत्पन्न करते थे। ऋषियों और राजकुमारियों के संबंध में एक बात उल्लेखनीय महसूस हो रही है, वह है कि ये राजाओं की कन्याओं

यानी राजकुमारियों से विवाह के लिए लालायित होते थे और अजीबो-गरीब बात यह भी है कि राजा भी इन तथाकथित ऋषियों को अपनी पुत्रियों को भोग के लिए सौंप देने में (इक्का-दुक्का अपवाद को छोड़कर) संकोच करते नहीं दिखते। कहां तपस्या व सीधा-सीधा सांसारिक ऐशो-आराम से दूर जंगलों में रहने वाला तथाकथित ऋषि और कहां राजकुमारियों का सुख-सुविधाओं व विलासिता भरा जीवन। दोनों की सोचने समझने की दुनिया एकदम अलग यानी दोनों में जमीन-आसमान का अंतर। जहां तक उम्र का सवाल है ऋषियों की उम्र और राजकुमारियों की उम्र में तालमेल को कहीं भी प्राथमिकता नहीं दी जाती थी। फिर दोनों की विपरीत जीवन स्थितियों के चलते इनके दाम्पत्य के संबंध में भी मुझे कोई तालमेल नजर नहीं आता। यह स्थिति मुझे ऐसी प्रतीत होती है **जैसी किसी कसाई के हाथों किसी निरीह पशु को सौंपने की हो सकती है।** इस स्थिति की कल्पना मात्र से ही अजीब प्रकार की पीड़ा की अनुभूति होती है, जिसे इस स्थिति से रोज प्रत्येक क्षण गुजरना पड़ता होगा, उसके उत्पीडन को बयां करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।

उपरोक्त प्रवृत्तियों के संदर्भ स्त्री की स्थिति को परखने की कोशिश करें तो पाते हैं कि महाभारत में कौरवों व पांडवों के अस्तित्व में आने से बहुत पहले जरत्कारू ऋषि और आस्तीक के जन्म की कहानी से स्त्री की गुलामी, बेबसी व उत्पीड़न की शुरुआत होती हे। यहां जरत्कारु बूढ़ा ब्रह्मचारी, तपस्वी व वेदों का जाता है। उसके पूर्वज नीचे मुंह किए लटके हैं उन्हें बचाने का एक ही विकल्प है कि उनका वंशज जरत्कारु संतान उत्पन्न करे। लेकिन बूढा और जर्जर होने के कारण उसे कोई अपनी कन्या देने को तैयार नहीं था। इसलिए वह जंगल में जाकर तीन बार बोलते हैं, ''मैं कन्या की याचना करता हूं। यहां जो भी चर-अचर अथवा गुप्त या प्रकट प्राणी हैं, वे मेरी बात सुनें। मैं पितरों का दुख मिटाने के लिए उनकी प्रेरणा से कन्या की भीख मांग रहा हूं। जिस कन्या का नाम मेरा ही हो, जो भिक्षा की तरह मुझे दी जाए और जिसके भरण-पोषण का भार भी मुझ पर न रहे, ऐसी कन्या मुझे प्रदान करो।[५]''

परिणामस्वरुप, नागराज वासुकि अपनी बहिन जरत्कारु ऋषि से ब्याहने को तैयार हो जाता है तो ऋषि कहता है, मैं इसका भरण-पोषण नहीं करुंगा, यह शर्त तो तय हो चुकी है। इसके अतिरिक्त एक शर्त यह है कि यह कभी मेरा अप्रिय कार्य न करे। करेगी तो मैं इसे अवश्य छोड़ दूँगा।[६]- एक दिन ऋषि खिन्न-से भाव से अपनी गर्भवती पत्नी की गोद में सिर रख कर सोए थे और सूर्यास्त का समय हो गया तो पत्नी ने सोचा, 'पति को जगाना धर्म के अनुकूल होगा या नहीं? ये बड़ा कष्ट उठाकर धर्म का पालन करते हैं। कहीं जगाने या न जगाने से मैं अपराधनी तो नहीं हो जाऊंगी? जगाने पर इनके प्रकोप का भय और न जगाने पर धर्म के लोप का।[७]' अंततः वह उन्हें जगा देती है और वह ऋषि उन्हें छोड़ कर चले जाते हैं, बाद में आस्तीक का जन्म भी हो जाता है और जरत्कारु ऋषि के पितरों की भी रक्षा हो जाती है।

लेकिन यह कहानी स्त्री की दयनीय स्थिति से जुडे कई प्रश्नों पर विचार करने के लिए बाध्य करती है। एक-यहां एक जर्जर ऋषि के साथ नागराज अपनी बहिन का विवाह कर देता है यह जानने के बावजूद कि वह ऋषि उसकी बहन का भरणपोषण नहीं करेगा या उसकी औकात ही नहीं थी उसकी भरणपोषण करने की। जबकि आज भी यह पहली शर्त होती है या यह मानकर चला जाता है कि पति अपनी पत्नि का या दोनों मिलकर सामूहिक रुप से अपने दांपत्य जीवन की जरूरतों को पूरा करेंगे। लेकिन यहां ऋषि सिर्फ स्त्री भोग की ठेकेदारी लेता है, वह भी सिर्फ अपनी सुविधा व मौज-मस्ती के लिए। दो-यहां नारी की अपनी इच्छाओं के लिए कोई स्थान ही नहीं है और

ऋषि की इच्छापूर्ति व उसके हित के लिए किए गए कार्य के लिए वह भी उस स्त्री का त्याग करता है, क्यों? तीन-यहां नारी की स्थिति दासी से भी बद्तर नजर आती है, आखिर वह कौन-सी मजबूरियां थीं कि नागराज वासुकि ने अपनी बहिन जरत्कारु की उस जर्जर, संवेदनहीन व अविवेकी जरत्कारु ऋषि की गुलामी ही स्वीकार नहीं की बल्कि अपने संपूर्ण जीवन को एक प्रकार से बलिवेदी पर चढा दिया।

महाभारत में एक और अजीब प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि ये ऋषि-मुनि कहीं भी किसी सुन्दर स्त्री को देखकर कामुक हो जाते हैं, उनका वीर्य स्खलन हो जाता है और जहां कहीं भी उनका वीर्य स्खलन होता है वही पर उससे विलक्षण, ज्ञानी, शूरवीर और न जाने कौन-कौन से चमत्कारी व दुर्लभ गुणों से युक्त बच्चे पैदा हो जाते है। यह पूरी संतान उत्पत्ति की प्रक्रिया और सारे **विज्ञान को झुठलाकर** नए-नए तरीके से बच्चे पैदा करने की संस्कृति का निर्माण करती है। इस अजीबो-करीब अंधविश्वासी संस्कृति को समझने के लिए कुछ उदाहरणों से गुजना जरूरी महसूस हो रहा है। एक-स्वयं महाभारत के रचयिता व्यास के जन्म के विषय में कहा गया है, ''भगवान व्यास का जन्म शक्तिपुत्र पराशर के द्वारा सत्यवती के गर्भ से यमुना की रेती में हुआ था। वे ही पाण्डवों के पितामह थे।[८]''

दो-धनुर्धर व तपस्वी शरद्वान के आश्रम में इन्द्र द्वारा भेजी जानपदी नाम की देवकन्या के लुभाने से 'उनके मन में विकार हुआ... उनका वीर्य सरकंडों पर गिरा था।[९]' यह दो भागों में बंट गया और ऐसे कृप और कृपी का जन्म हुआ। तीन-महर्षि भारद्वाज गंगा स्नान करने गए थे, उन्होंने देखा कि 'घृताची अप्सरा स्नान करके जल से निकल रही है। उसे देखकर उनके मन में काम-वासना जाग उठी। उनका वीर्य स्खलित होने लगा, तब उन्होंने उसे द्रोण नामक यज्ञपत्र में रख दिया। उसी में द्रोण (जिनका विवाह शरद्वान की पुत्री कृपी से हुआ)का जन्म हुआ।[१०]' चार- ब्रह्मऋषि विभाण्डक सरोवर स्नान करने गए। वहां उर्वशी अप्सरा को देखकर जल में ही उनका वीर्य स्खलित हो गया। इतने में ही वहां एक प्यासी मृगी आयी और वह जल के साथ वीर्य को भी पी गई।... इसी से महामुनि ऋष्यश्रंग का जन्म मृगी से हुआ।[११] (यदि यह मृग पी जाता तो शयद मृग से यह महामृनि पैदा होते। कृपी और कृप...) पांच-व्यास का पाण्डु, घृतराष्ट्र व विदुर के अलावा भी एक पुत्र था जिसका नाम शुक्रदेव था। वर्णन कुछ इस प्रकार है-'एक बार व्यास अग्नि प्रकट करने के लिए अरणीमंथन कर रहे थे। इसी समय उनकी दृष्टि परम रुपवती घृताची अप्सरा पर पडी। उसकी रुप संपत्ति ने उनका मन आकर्षित कर लिया। इससे अकस्मात उनका वीर्य अरणी में गिरा। उसी से महातपस्वी शुक्रदेव का जन्म हुआ।[१२]'

महाभारत में एक अन्य प्रकार का उदाहरण देखने को मिलता है। इसके अनुसार अग्निदेव की ऋषियों की पत्नियों को देखकर कामाग्नि जागृत हो जाती है और इसके शान्त न होने की दशा में वे वन में शरीर त्यागने चले जाते हैं। लेकिन वहां स्वयं अग्निदेव की पत्नी स्वाह बारी-बारी से उन ऋषियों की पत्नियों का रुप धारण करती हैं (जिन्हें देखकर अग्निदेव कामाग्नि जागृति के शिकार हुए थे।) और कामदेव की काम-वासना को शांत करती है। इस सारे उपक्रम से एक ही विलक्षण पुत्र स्कंद का जन्म होता है परिणामस्वरुप, ये सारे ऋषि अपनी पत्नियों के चरित्र पर शक करके उनका त्याग करते हैं। लेकिन जब विश्वामित्र अपने को इस सारे प्रकरण का चश्मदीद होने का दावा करते हैं और ऋषि पन्तियों को निर्दोश बताते हैं तब ऋषि अपनी पत्नियों को स्वीकार करते हैं।[१३] यह सारा घटनाक्रम ऋषियों की दूरदर्शिता, योग्यता व ऋषित्व पर बड़ा सवाल खडा करता है। स्त्री को पुरुष की मोहताज ही बनाती है। ऋषि कहां-कहां वीर्य स्खलन करते फिरते हैं, उनका कोई हिसाब नहीं लेकिन पत्नियों

के बारे में उन्हें सुचिता की सारी गारंटी चाहिए। ऋषि और पत्नियाँ दोनों का एक साथ होना किसी बड़े पाखंड व छलकपट का द्योतक हैं, किसी सभ्यता का नहीं।

ऋषियों की कामुकता और उनके चरित्र को समझने की कोशिश करें तो हम पाते हैं कि सिर्फ स्खलन, राजकुमारियों से विवाह व उनके साथ संभोग तक ही सीमित नहीं रहते थे बल्कि पशुओं तक को अपनी काम-वासना का शिकार बनाने से नहीं चूकते थे। ऋषियों की इस प्रवृत्ति को समझने के लिए महाभारत में वयक्त किंदम ऋषि की मृगी के साथ मैथून की कहानी का उल्लेख किया जा सकता है।... एक यूथपति मृग अपनी पत्नी मृगी के साथ मैथुन कर रहा था। पाण्डु ने साधकर पांच बाण मारे। मृग ने कहा... मुझ निरपराध को मारकर आपने क्या लाभ उठाया? मैं किंदम नाम का तपस्वी मुनि हूं। मनुष्य रहकर यह काम करने में मुझे लज्जा मालूम हुई, इसलिए मृग बनकर अपनी मृगी के साथ मैं विहार कर रहा था।... यदि आप अपनी पत्नी के साथ सहवास करेंगे तो उसी अवस्था में आपकी मृत्यु होगी और वह पत्नी आपके साथ सती हो जाएगी।[१४] यही नहीं सूर्य की पत्नी बड़वा (घोड़ी) से अश्विनीकुमारों का जन्म हुआ।[१५] यहां सूर्य का जिक्र आया है और उसके घोड़ी के साथ संभोग के कारण अश्विनीकुमारी के जन्म की बात कही गई है। यह घटनाक्रम मुझे यह सोचने पर विवश करती है कि क्या यह वही सूर्य हैं जिनकी कृपा से कुंती को कर्ण की प्राप्ति हुई थी। यदि ऐसा है तो अश्विनीकुमारों और कर्ण एक ही पिता की संतान होने के कारण भाई-भाई होने चाहिए। यह किस्सा इस बात पर विचार करने को बाध्य करता है कि पशुओं के साथ यौनाचार करने वाले ये तथाकथित सूर्य इतने तेजस्वी और तथाकथित ईश्वरीय शक्तियां कैसे रखते थे। क्या इन तथाकथित ईश्वरीय शक्तियाँ को हासिल करने के लिए पशुओं से यौनाचार भी एक योग्यता का आधार था।

किंदम ऋषि में पाण्डु को श्राप देने की क्षमता और सूर्य में कर्ण को कवच-कुंडल सहित पैदा करने की चमत्कारिक क्षमता तो इसी ओर इशारा करती है। यहां एक और मजे की बात सामने आती है कि इंसानों से जानवर और जानवरों से इंसान पैदा होते थे। इसके लिए महाभारत में कहा गया है कि 'केराहिणी से गाय बैल और गन्धर्वी से घोड़े पैदा हुए।[१६]' इन ऋषियों के यौनाचार की शिकार सिर्फ स्त्रियां ही नहीं थी बल्कि निरीह पशु भी इन ऋषियों के यौनाचार के शिकार थे। महाभारत में चमत्कारिकता के कुछ नमूनो पर विचार किया जा सकता है। दक्षप्रजापति की दो कन्याएं कद्रू और विनता थी। उनका विवाह कश्यप ऋषि से हुआ।... कद्रु ने एक हजार और विनता ने दो अंडे दिए।... पांच सौ वर्ष पूरे होने पर कद्रु ने तो हजार पुत्र निकाल लिए।[१७] यहां किसी स्त्री से अंडे देने का मामला सामने आता है और किसी से सीधे-सीधे बच्चे और वह भी हजारों की संख्या तक। गर्भ धारण की अवधि के बारे में और भी अजीब उदाहरण मौजूद हैं। जैसे-महाभारत में बच्चे पैदा करने की भी अजीब रीत है गंधारी दो वर्ष में बच्चे पैदा करती है द्रौपदी एक-एक वर्ष में और 'अगस्त्य मुनि की संतान लोपामुद्रा के पेट में गर्भ सात वर्ष तक बढ़ता रहता है।[१८]' इस बच्चे पैदा करने की अलग-अलग अवधि के वर्णन से मुझे स्त्री के प्रति किसी साजिश की बू आजती है। यह स्थिति सवाल खडा करती है कि क्या ये बच्चे स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक संबंधों से पैदा होते थे या किसी अस्वाभाविक शरीरिक संबंधों के तहत जिसमें स्त्री और पशुओं के संबंधों के द्वारा जैसा कि अश्वमेघ यज्ञ (घोडे और अश्वमेघ यज्ञ करने वाले राजा की रानी का संभोग का वर्णन मिलता है) के संबंध में देखने को मिलता है।

इतना ही नहीं कुछ अन्य उदाहरण भी महाभारत में देखने को मिलते हैं, जैसे-वसिष्ठ की पुत्रवधु अदृश्यंती के गर्भ में बारह वर्ष से वसिष्ठ का पौत्र

वेदाध्यन कर रहा था। राजा बृहद्रथ की दो पत्नियों के आधे-आधे बच्चे क्योंकि उन्होंने आधा-आधा फल खाया था, बाद में दोनों मिलकर एक वीर बनता है, जिसका नाम जरासंघ है।[१९] कृप और कृपि के जन्म के बारे में भारद्वाज के वीर्य स्खलन की अजीबोगरीब कहानी महाभारत में मौजूद है।[२०] सामान्य प्रक्रिया की तरह पशुओं से मैथुन, वीर्य स्खलन से बच्चे पैदा होना और वे भी साधारण नहीं बड़े ही मेधावी, शूरवीर और इतिहास रचने वाले। महाभारत के यौनाचार को किस रुप में समझा जाए और इसके कारण स्त्री किस प्रकार की शरीरिक व मानसिक यातनाओं से गुजरती होगी, इसका फैसला पाठकों पर छोड़ना ही श्रेयकर होगा। व्यास का पूरे महाभारत में शुरु से अंत तक रहना और महाभारत में ही मार्कण्डेय की उम्र हजारों वर्ष होना।[२१] आयु के इतना लम्बा होने के मामले यानी अजूबे भी स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक संबंधों के विषय में अनेक प्रकार के सवाल खड़े करते है। खैर...

पूरे महाभारत में मुझे ऐसा भी कहीं देखने को नहीं मिलता कि किसी राजकुमारी से किसी ऋषि के साथ उसके विवाह के संबंध में कोई राय व इच्छा जानने की जरूरत समझी गई हो। उन्हें गाय-भैंस या भेड़-बकरियों की तरह दोहन के लिए ऋषियों के हवाले कर दिया जाता था। इसके पीछे राजाओं का ऋषियों के श्राप से डरना था या स्त्रियों को इतना महत्व ही नहीं दिया जाता था कि उनके ऋषियों के विषय में भावी जीवन की सुख-शान्ति के बारे में या उनके जीवन में ऐसे बेमेल विवाह के कारण उठने वाले ज्वार-भाटों के परिणामों के बारे में सोचा जाए। इस संबंध में मुझे एक कहावत याद आती है कि चाहे खरबूजा चाकू पर गिरा या चाकू खरबूजे पर, दोनों ही स्थितियों में नुकसान खरबूजे का ही होना तय होता है। मुझे ऋषियों और राजकुमारियों के विवाह के संबंध में स्त्री खरबूजे की स्थिति नजर आती है और ऋषि चाकू की स्थिति में और इसमें शक की कोई गुंजाइश नजर नहीं आती कि इस सबका खामियाजा राजकुमारियाँ (स्त्रियाँ) को ही भुगतना पडता था। यहां इनकी घुटन, दासता व बेबसी की लम्बी जिंदगी की कल्पना मात्र से कलेजा मुंह को आता है।

महाभारत में स्पष्ट है कि ऋषि राजाओं को ब्लैकमेल भी करते थे। इसको समझने के लिए राजा शर्यति का उदाहरण लिया जा सकता है। किस्सा कुछ इस प्रकार है कि राजा शर्यति अपनी रानियॉ व पुत्री सुकन्या के साथ सरोवर पर क्रीडा करने आया तो उसकी पुत्री ने सहेलियों सहित तपस्यारत व मिट्टी से ढके ऋषि क बांबी के छिद्र में कांटे चुभा दिए और बाद में पता चला कि उससे च्यवन ऋषि की आंखोमें छेद हो गया हैं भृगुनंदन च्यवन ने राजा से कहा, 'इस गर्वीली छोकरी ने अपमान करने के लिए ही मेरी आंखें फोड़ी है। अब इसे पाकर ही क्षमा कर सकता हूं।' अंततः सुकन्या का विवाह कुरुप च्यवन ऋषि से कर दिया गया।[२२] यह घटना साफ दर्शाती है कि **राजा कितने विवश थे और ऋषि कितने सशक्त।** यहां देखने की बात यह है कि ऋषि को अपनी पुत्री, पौत्री या परपौत्री की उम्र की लड़की को सजा देने को मात्र एक ही रास्ता नजर आता है, वह है उससे विवाह करने का और उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह कैसी नैतिकता थी इन ऋषियों की। क्या यह सीधा-साधा इन ऋषियों की कामुकता की ओर इशारा नहीं करता। एक ऋषि जो इतनी गहन तपस्या में लीन है कि उसका सारा शरीर मिट्टी से ढ़क गया है और यह भी पता नहीं चलता कि यह कोई जीव है या फिर मिट्टी का ढेर लेकिन जैसे ही वह होश में आता तो दोषी राजकुमारी से सिर्फ शादी करके ही उसे उसकी गलती का दंड देता है। राजा इतना भीरू कि अपनी पुत्री की रक्षा करने में एकदम नाकाम। शायद ये राजा भी अपनी पुत्रियों को इंसानों की श्रेणी में नहीं संवेदनहीन वस्तुओं की श्रेणी में मानते थे। तभी तो 'कन्नौज के

राजा गांधी जब बन में जाकर रहने लगे थे और वहां उसके यहां एक पुत्री (सत्यवती) उत्पन्न हुई थी तो उसने ऋचीक मुनि के साथ उसका ब्याह कर दिया था।[२३]'

महाभारत में एक जगह अपवाद स्वरुप एक उदाहरण देखन को मिलता है जिसमें राजा अपनी पुत्री के ऋषि अगस्त्य से शादी के प्रस्ताव के संबंध में परेशान है। यहां संकेत मिलता है कि ऋषि राजाओं का ब्लैकमेल करते थे। लेकिन यहां भी राजा यानी क्षत्रिय (जिसके कंधों पर अपने राज्य की पूरी प्रजा की रक्षा की जिम्मेदारी होती है) अपनी पुत्री को ऋषि से मुक्ति का मार्ग नहीं तलाशता बल्कि स्वयं उनकी बेटी लोपमुद्रा ही अपने माता-पिता की चिंता और डर की मुक्ति का मार्ग अपने अरमानों का खून करके तलाशती है। किस्सा कुछ इस प्रकार है-अगस्त्य ऋषि ने विदर्भ देश के राजा से कहा-राजन! पुत्रोत्पति की इच्छा से मेरा विचार विवाह करने का है। इसलिए मैं आपसे आपकी पुत्री लोपामुद्रा को मांगता हूं। आप मेरे साथ इसका विवाह कर दें। मुनिवर अगस्त्य ऋषि की बात सुनकर राजा को होश उड गए। वे न तो अस्वीकार ही कर सके और न ही कन्या देने का साहस ही।... वे अपनी व्यथा महारानी को बताते हुए कहते है- प्रिये! महर्षि अगस्त्य बड़े ही तेजस्वी हैं। वे क्रोधित हो गए तो हमें श्राप की भयानक आग से भस्म कर डालेंगे।... तब राजा और रानी को अत्यंत दुखी देख राजकन्या लोपामुद्रा ने उनके पास आकर कहा, 'पिताजी! मेरे लिए आप खेद न करें, मुझे अगस्त्य मुनि को सौंपकर अपनी रक्षा करें।[२४]'

पूरे महाभारत में जहां तक मुझे याद आता है, केवल लोपामुद्रा ही अकेली ऐसी राजकुमारी हैं जो थोड़ा साहस दिखाती नजर आती है जब वह अगस्त्य ऋषि से कहती है- ''काषाय वस्त्रों को धारण करके मैं समागम नहीं कयंगी। यह ताप का बाना बड़ा पवित्र है, इसे किसी प्रकार के संभोग आदि के द्वारा अपवित्र नहीं करना चाहिए।[२५]'' यह विद्रोह उस ऋषि से विवाह करने से इंकार नहीं है बल्कि एक प्रकार का परिस्थितियों से समझोता जैसा है। इस उदाहरण से अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि उस समय स्त्रियों की स्थिति कितनी विवशतापूर्ण, अंधविश्वासी व धर्मभीरुतापूर्ण रही होगी कि राजा भी ऋषियों के सामने निरीह प्राणियों जैसा आचरण करते थे। शायद इन राजकुमारियों में अन्याय के विरुद्ध कुर्बानी का जज्बा नहीं रहा होगा तभी तो ये इंसानी अधिकारों से महरुम रहने पर विवश रही होगी।

महाभारत में कुछ परिस्थितियां ऐसी भी नजर आती हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि महाभारत में स्त्री को उपहार रुप में भी भेंट किया जाता था। एक जगह नारद जी सृन्जय से कह रहे हैं- ''राजा भगीरथ की मृत्यु की बात सुनी गई है। उन्होंने यज्ञ करते समय गंगा के दोनों किनारों पर सोने की ईटों के घाट बनवाए थे तथा सोने के आभूषणों से विभूषित दस लाख कन्याएं ब्राह्मणों को दान देने की थी। सभी कन्याएं रथों में बैठी थी, सभी रथों में चार-चार घोड़े जुते थे।[२६]'' यहां सोने के आभूषणों से विभूषित दस लाख कन्याएं ब्राह्मणों को दान देने की जो बात कही जा रही है, यह प्रश्न खड़ा करती है कि ये दस लाख कन्याएं कौन थी? क्या वे ब्राह्मण थी, क्षत्रिय थी, वैश्य थी, शूद्र थी या वर्णव्यवस्था से बाहर इस देश की मूलनिवासी थी? दूसरा सवाल यह उठता है कि ये ब्राह्मण इन स्त्रियों का करते क्या थे? ये अपने आप में स्त्री अस्मिता पर बड़े सवाल है और ये सवाल उस समय के पुरुष समाज पर भी हैं। वैसे इसमें हैरानी की बात भी नहीं है कि जिस समाज का ऋषि इतना कामुक व लंगोट का इतना कच्चा हो तो उसका अन्य समाज कैसा होगा। इसलिए ऋषि के बाद तो नंबर ब्राह्मण का ही आता है फिर अपनी चलती व इस यौन अनाचार की नंगी दौड़ में वह क्यों कसर छोड़ता।

मुद्दा ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं, इसकी जड़े, बड़ी गहराई तक अन्य वर्णों में भी नजर आती है।

बानगी के लिए अर्जुन व सुभद्रा विवाह का उदाहरण लिया जा सकता है। मामला कुछ इस प्रकार है- ''श्रीकृष्ण ने सुभद्रा के विवाह में अनेक संख्या में उपहार व धनराशी के साथ-साथ सब प्रकार से योग्य सहस्र दासियां भी उपहार में दी।[२७]'' अब ये दासियां किस लिए दी गई थी, यह सवाल भी कम बड़ा नहीं है। भई जिस राज्य में पहले से ही सारी व्यवस्था है वहां इन दासियों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी कोई यूं ही तो नहीं उठता। यह राजाओं का शगल तो था ही साथ में साफ है कि यह उनकी एय्यासी का भी एक सुनियोजित षडयंत्र था। जाहिर है कि स्त्री के पास भोग की वस्तु बने रहने के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं था। अपनी अस्मिता की पहचान व इसकी रक्षा के लिए अपने जीवन को समाप्त करने की सोच शायद उस समाज में पैदा ही नहीं होने दी गई थी। इसकी दूसरी वजह अत्याचार की अति भी हो सकती है क्योंकि उस जमाने में संभवतः स्त्री गुलामी से मुक्ति के लिए अन्य कोई विकल्प सोचने की क्षमता ही खो चुकी थी।

महाभारत में ऋषियों व अन्य प्रवृत्तियों के माध्यम से स्त्री जीवन को समझने के उपरान्त अब महाभारत के अन्य जाने-माने पात्रों के माध्यम से स्त्री जीवन को समझने का प्रयास करते हैं। इसकी शुरुआत चिर-परिचित पात्र दुष्यंत और शकुंतला से की जा सकती है। कुरुवंशरु/पुरुवंश का प्रवर्त था राजा दुष्यंत। एक दिन दुष्यंत अपनी सेना के साथ वन में जाता है और अपनी सेना को बाहर छोडकर काश्यपगोत्रिय कण्व ऋषि के आश्रम में प्रवेश करता है। वहां वह कण्व ऋषि की अनुपस्थिति में उनकी पुत्री शकुंतला (इन्द्र द्वारा विश्वामित्र का तप भंग करने के लिए भेजी गई अप्सरा थी, के संयोग से शकुंतला का जन्म हुआ था।[२८]) से दुष्यंत पहली ही मुलाकात में शकुंतला से गन्धर्व विवाह करने की पेशकश करता है लेकिन शकुंतला पिता के आने की प्रतीक्षा करने को कहती है। इस संदर्भ में दुष्यंत शकुंतला से कहते हैं- ''मैं तुम्हें चाहता हूं, यह भी चाहता हूं कि तुम मुझे स्वयं वरण कर लो। मनुष्य स्वयं ही अपना हितैषी और जिम्मेवार है। तुम धर्म के अनुसार स्वयं ही अपना दान करो।...'' किसी तरह शकुंतला सशर्त राजी हो जाती है और राजा से प्रतीज्ञा करवा लेती है कि मेरे बाद तुम्हारा ही पुत्र सम्राट होगा और मेरे जीवनकाल में ही वह युवराज बन जाएगा।[२९]

दोनों ने गन्धर्व विवाह किया और दुष्यंत ने उससे समागम किया और वह गर्भवती होकर छ वर्ष तक पिता के घर रहती रही। एक प्रकार से राजा उसे भूल ही जाता है। लेकिन शकुंतला अपने पुत्र को लेकर हस्तिनापुर जाती है और काफी जद्दोजहद होती है और एक आकाशवाणी के उपरांत दुष्यंत भरत को पुत्र के रुप में स्वीकार कर लेता है और उसका राज्याभिषेक भी कर दिया जाता है। यह राजाओं की कैसी शगल थी कि वे किसी भी सुंदर स्त्री को देखते ही मोहित हो जाते हैं, उससे शारीरिक संबंध बनाते हैं और उसे भूल भी जाते हैं। और अपनी काम-वासना की पूर्ति के लिए न जाने कैसे-कैसे वचन दे डालते हैं। ऐसे कारनामों को किसी राजा की परिपक्वता व दूरदर्शिता तो नहीं कहा जा सकता। जाहिर है कि इसे नारी के स्वाभिमान व अस्मिता के पक्ष में भी नहीं माना जा सकता। यह स्थिति भी कमोबेश नारी को भोग की वस्तु के अतिरिक्त कोई सम्मान देने की पक्षधर नजर नहीं आती।

इसी कड़ी में शान्तनु व गंगा व ऐपीसोड लिया जा सकता है। शान्तनु का विवाह भागीरथी गंगा से कुछ वैसे ही हुआ जैसे दुष्यंत के सम्मोहन/आशक्ति के कारण शकुंतला से होता है। शान्तनु भी गंगा की वे शर्ते मान लेता है कि गंगा अपनु पुत्रों का क्या करती हे, इस विषय में कोई प्रश्न नहीं करेंगे और जिस दिन वह यह प्रश्न करेंगे उसी दिन वह उन्हें छोड़कर चली जाएगी। गंगा और शान्तनु के आठ पुत्र होते हैं और गंगा सात को गंगा नदी में बहा देती है। अंततः आठवें

पुत्र देवव्रत (भीष्म) के जन्म के साथ शान्तनु के सब्र का बाँध टूट जाता है और वह उसे गंगा में बहाने से रोकता है और कारण पूछकर अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देता है। गंगा इसका कारण तो बता देती है लेकिन वह शान्तनु को छोड़ कर चली जाती है और शान्तनु विरह की आग में जलता पीछे छूट जाता है।

शान्तनु इस घटनाक्रम से कोई सबक लेते नजर नहीं आते और फिर सत्यवती की ओर आकर्षित हो जाते हैं लेकिन इस बार वह अपने और सत्यवती से पैदा होने वाले पुत्र को राजा बनाने का वचन नहीं देते। परिणामस्वरूप, वह विरह की आग में घुट-घुटकर मरने लगते हैं। इस बार ढलती उम्र के पिता की कामवासना की पूर्ति के लिए पुत्र देवव्रत अपनी खुशियों की कुर्बानी देता है और स्वयं कभी विवाह न करने की भीष्म प्रतीज्ञा कर वह भीष्म बन जाता है। भीष्म के अलावा पूरे महाभारत में ऐसा कोई पात्र नहीं है जो इच्छा मृत्यु का वरदान पाने का अधिकार रखता है। लेकिन भीष्म है कि अकेले इच्छा मृत्यु के अधिकार से सुशोभित हैं। इस संदर्भ में विचारणीय बिंदु यह है कि क्या एक कमजोर इच्छाशक्ति का व्यक्ति (शांतनु) अपने पुत्र को इच्छा मृत्यु का वरदान दे सकता है। यह किसी भी तर्क से संभव नहीं है, लेकिन यह महाभारत है यहां सब कुछ संभव हो सकता है।

खैर, जो कुछ भी है देवव्रत यानी इतिहास का भीष्म अपने पिता की प्रसन्नता के लिए सत्यवती के साथ उनका विवाह करा देता है और स्वयं शादी नहीं करता। स्वाभाविक है कि वह ऋषियों की तरह किसी वीर्य स्खलन से भी बच्चे पैदा नहीं करता और न ही वह किसी सुंदरी व अप्सरा की ओर ही आकर्षित होता है। पूरे महाभारत में शायद भीष्म ही ऐसे इकलौते अपवाद हैं, जिसे स्त्री के प्रति आशक्त नहीं दिखाया गया है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है वे स्त्री के प्रति किसी विशेष सम्मान के पक्षधर रहे हैं या स्त्री अस्मिता व सशक्तता के लिए उन्होंने कोई बहुत बड़ा संघर्ष या कीर्तिमान स्थापित किया है। उनका स्त्री को भोग की वस्तु समझने का अपना अलग अंदाज था। भीष्म काशी नरेश की तीन कन्याओं अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका को बलपूर्वक हराकर विजयी होकर कन्याओं के साथ हस्तिनापुर लौट आये। वहां उन्होंने तीनों कन्याएं विचित्रवीर्य को समर्पित कर दी और उनके विवाह का आयोजन किया।[३०] अम्बा तो वापस चली गई क्योंकि उसने मन ही मन शाल्व को अपना पति मान लिया था। लेकिन शाल्व ने उसे भीष्म द्वारा हर लिए जाने के कारण विवाह करने से मना कर दिया। जब वह वापस लौटकर विचित्रवीर्य के पास आती है तो वह भी उसे इसलिए अस्वीकार कर देता है कि उसने शाल्य को मन ही मन अपना पति मान लिया था। यही अम्बा बाद में चलकर शिखंडी बनती है और भीष्म से अपनी दुर्दशा का बदला लेती है।

इसी के चलते अम्बा का जीवन तो दोनों ओर से ठुकराए जाने के कारण तबाह हुआ जिसके जिम्मेदार भीष्म थ। और बाकी दो बहनों का जीवन भी भीष्म के कारण ही तबाह हुआ होता ऐसे है कि भीष्म के पिता शान्तनु और सत्यवती से दो पुत्र पैदा होते हैं। एक का नाम विचित्रवीर्य और दूसरे का नाम चित्रांगद था। (इस संबंध में गौरतलब यह भी है 'व्यास का जन्म शक्तिपुत्र पाराशर के द्वारा सत्यवती के गर्भ से यमुना की रेती में हुआ था। वे पाण्डवों के पितामह थे।[३१]' भीष्म भी पांडवों के पितामह थे अर्थात ये दोनों एक प्रकार से भाई-भाई थे।) चित्रांगद बचपन में ही गन्धर्वों के हाथों मारा जाता है। इसके बाद विचित्रवीर्य राजा होते हैं। भीष्म द्वारा जबरन हरण करके लाई गई काशी नरेश की तीनों पुत्रियों में से दो पुत्रियों अम्बिका और अम्बालिका का चित्रांगद से विवाह करा दिया जाता है। (अम्बा चली जाती है) **गौरतलब है कि न तो विचित्रवीर्य ने उन्हें स्वयंवर में जीता था** और न ही उन्होंने विचित्रवीर्य से स्वेच्छा से शादी ही की थी। यानी भीष्म इन दोनों बहनों को जबरन व एक प्रकार

से खैरात में अपने अयोग्य व पौरुषविहीन भाई विचित्रवीर्य को दे देता है। भरी जवानी में विचित्रवीर्य को क्षय हो गया और बहुत चिकित्सा करने पर भी वह चल बसा।[३२] यहां भीष्म के कारण मासूम राजकुमारियां भोग की वस्तु बनकर रह गई। यह प्रवृत्ति जिसकी लाठी उसकी भैंस की मानसिकता की द्योतक है और भीष्म को स्त्री विरोधी कठघरे में खड़ा करती है।

भीष्म का स्त्री विरोधी चरित्र का अंत यही नहीं होता बल्कि और आगे तक जाता है। जब विचित्रवीर्य निःसंतान मर जाता है तो दोनों बहनों अम्बिका और अम्बालिका की अस्मत से फिर खिलवाड होता है। उसकी माता सत्यवती ने सोचा कि अब तो दुष्यंत के वंश का उच्छेद हुआ। उसने व्यास का स्मरण किया और उनके आने पर कहा कि ''तुम्हारा भाई विचित्रवीर्य बिना संतान के ही मर गया। तुम उसकी वंश रक्षा करो। व्यास ने माता की आज्ञा स्वीकार करके अम्बिका से घृतराष्ट्र, अम्बालिका से पाण्डु और दासी से विदुर को उत्पन्न किया।[३३]'' गौरतलब है कि यहां एक ऋषि (व्यास) है और किसी व्यक्ति के ऋषि हो जाने के उपरांत न उसके माता-पिता ही रह जाते हैं और न ही अन्य कोई और रिश्ते ही। ऐसे में प्रश्न उठता है कि ऋषि व्यास ने अपने छोटे भाई की पत्नियों से शरीरिक संबंध बनाने की क्यों सोची। यह पूरी तरह **अनैतिक** है, एक ऋषि के स्तर पर भी और एक बड़े भाई के स्तर पर भी। अगर यह कार्य इतना ही धर्मसंगत था तो यह काम भीष्म से भी कराया जा सकता था...खैर। यहां ऋषि यानी **सन्यासी व्यास** से बच्चे पैदा कराने के निर्णय में भीष्म भी बराबर के साझीदार हैं। **वे सारे स्त्री विरोधी निर्णयों में बराबर के भागीदार रहते हैं लेकिन प्रतिज्ञा के कारण भीष्म बने रहते हैं। अर्थात वह पुरुष/पिता के लिए तो सब कुछ करते हैं लेकिन महिलाओं के हितों के रक्षक बनकर खड़े होने की अपेक्षा उनके हितों के खिलाफ खड़े नजर आते है। भीष्म महिला हितों के प्रति संवेदनहीनता को ही शाल्य नरेश की तीनों पुत्रियों अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका की बर्बादी के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।**

थोड़ी देर के लिए सत्यवती और भीष्म द्वारा प्रयोजित ऋषि व्यास द्वारा शारीरिक संबंध बनाने को और राज्य को वारिस देने की मजबूरी को इनके कुतर्क के आधार पर स्वीकार कर लें तो दासी से ऋषि व्यास के संभोग और उससे विदुर नामक पुत्र पैदा करने के पीछे के तर्क को कैसे उचित मान लिया जाए। कहा गया है कि 'जब अपनी-अपनी माता के दोष के कारण धृतराष्ट्र अंधे और पांडु पीले हो गये, तब अम्बिका की प्रेरणा से उसकी दासी ने व्यास जी के द्वारा ही विदुर को उत्पन्न किया।[३२]' यदि हम धृतराष्ट्र अंधे और पांडु पीले होने के प्रकरण पर विचार करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः ये दोनों अम्बिका और अम्बालिका व्यास के साथ संभोग को स्वीकार नहीं कर पा रही थी, इसे बलात्कार की संज्ञा दी जाए तो पूरी तरह गलत नहीं कहा जा सकता। संभवतः बलात्कार की वजह से ही धृतराष्ट्र अंधे और पांडु पीले हो गए थे। लेकिन एक सच्चाई यह भी साफ-साफ दिखलाई पड़ती है कि बच्चे पैदा करना ऐसा नहीं था कि जैसे कम्प्युटर में कमांड दी और प्रिंट बाहर। बच्चा अपने विकास के लिए पूरा समय लेता है। फिर यह कैसे पता चल गया कि एक बच्चा अंधा पैदा हो रहा है और दूसरा पीलियाग्रस्त। जाहिर है कि इस तर्क के आधार पर व्यास द्वारा विदुर की मां दासी के साथ शरीरिक संबंध को तर्कयुक्त व नैतिक नहीं ठहराया जा सकता। यह ऋषि की कामुकता थी और इससे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं।

स्त्री शोषण की इस झूठी कहानी को परखने के लिए विचार किया जा सकता है कि जब अम्बिका और अम्बालिका से व्यास के संभोग का मुद्दा वंश चलाने का था तो फिर व्यास के दासी के साथ शरीरिक संबंध स्थापित करने का क्या मतलब था?

इसका पुरुष के संदर्भ में सीधा-सा अर्थ ऋषि की काम वासना और दासी के संबंध में इसका सीधा-सा अर्थ यह निकलता है कि उनका शरीरिक शोषण आम बात रही होगी। महाभारत की स्त्री-विरोधी मानसिकता के चलते व्यास द्वारा उसके (दासी) शारीरिक शोषण की घटना सामान्य घटना ही कही जा सकती है जिसके परिणामस्वरुप विदुर का जन्म होता है। यदि दासी से व्यास का शरीरिक संबंध उसी उद्देश्य के लिए होता जिसके लिए अम्बिका और अम्बालिका के लिए था तो फिर महाभारत में विदुर को हस्तिनापुर का राजा क्यों नहीं बनाया गया। जब वंश पिता से चलता है तो विदुर के पिता भी तो व्यास ही थे। इस एपीसोड में गौरतलब यह भी है कि धृतराष्ट्र के अंधे और पांडु पीलियाग्रस्त होने के पीछे तर्क दिया गया है कि अम्बिका और अम्बालिका ने व्यास को सहयोग नहीं दिया था, वे डर गई थी लेकिन विदुर की मां ने तो हर तरह से सहयोग किया था फिर **विदुर को सिर्फ कहा गया कि ''विदुर के समान धर्मज्ञ और धर्मपरायण तीनों लोकों में कोई नहीं था।**[३५]'' लेकिन पांडु और धृतराष्ट्र के विषय में कहा गया है- 'मनुष्यों में सबसे श्रेष्ठ धनुर्धर पाण्डु और सबसे अधिक बलवान थे धृतराष्ट्र।[३६]' वास्तव में विदुर को धर्मज्ञ और धर्मपरायण के साथ-साथ सबसे अधिक बलवान और धनुर्धर (शूरवीर) होना चाहिए था। लेकिन विदुर के साथ तो शुरु से भेदभाव हुआ है इसी वजह से तो उसका विवाह भी एक **दासी** से ही कराया जाता है- 'भीष्म ने सुना कि राजा देवक के यहां एक सुंदर एवं युवती दासीपुत्री है। उन्होंने उसे मांगकर परम ज्ञानी विधुर जी के साथ उसका विवाह कर दिया।[३७]'

वैसे व्यास से वंश चलवाना भी अर्थहीन ही हैं क्योंकि इस कहानी में एक और बड़ा छिद्र है, वह है-ऋषि व्यास ऋषि पाराशर और सत्यवती की संतान थी, फिर उससे भरत वंश चलाने की बात कैसे व्यावहारिक कही जा सकती है। (उससे भरत वंश चल रहा था या व्यास वंश या पाराशर वंश) यदि सत्यवती के कारण भरत वंश चलना था तो फिर संतान उत्पन्न करने के लिए ऋषि व्यास को ही क्यों बुलाया जाता है। यह संतान उत्पन्न कराने का कार्य तो किसी 'ऐसे गैरे नत्थू खैरे' से बुलाकर कराया जा सकता था, फिर व्यास ही क्यों? वह भरत वंश अम्बिका और अम्बालिका से चलता रहता। लेकिन मौजूदा केस में मुझे तो यह **ऋषि पाराशर** का वंश चलता नजर आता है। यदि इस घटनाक्रम को पांडु व कुंती के संदर्भ में देखें तो भी यह वंश भरत वंश की कसौटी पर खरा उतरता नजर नहीं आता, क्योंकि महाभारत में कुंती और पांडु के शरीरिक संबंधों से तो कोई भी संतान पैदा नहीं होती। कोई सूर्य से, कोई चन्द्र से, कोई इन्द्र से... और ये सभी स्वाभाविक प्रक्रिया से उत्पन्न नहीं होते। ऐसे में उन्हें भरतवंशी कहा जाना कितना सुरक्षित व तार्किक है और कितना नहीं, इसका फैसला सुधिजन पाठक स्वयं ही कर लें।

विदुर की मां के साथ ऋषि व्यास के शारीरिक संबंध स्थापित करने का मुद्दा राज दरबारों में दासियों के देहिक शोषण का जीता जागता उदाहरण है। इसका किसी वंश परंपरा स्थापित करने से कोई लेना-देना नहीं था। लेकिन एक बड़ा सवाल यह भी है कि महाभारत में इस विदुर के पैदा होने के ऐपीसोड में ऐसा लगता है जैसे ऋषि से संबंध बनाने का स्वार्थ दासी (विदुर की मां) का था क्योंकि यहां कहलवाया गया -'अम्बिका की प्रेरणा से उसकी दासी ने व्यास जी के द्वारा ही विदुर को उत्पन्न किया।[३८]' यहां दासी अम्बिका से प्रेरणा लेकर विदुर को पैदा कराती है और जैसे राजपरिवार का इस घटनाक्रम से कुछ लेना-देना नहीं था। इस पाखंड की हकीकत को समझने के लिए धृतराष्ट्र का उदाहरण लिया जा सकता है। घटना कुछ इस प्रकार है- 'जिन दिनों गांधारी गर्भवती थी और धृतराष्ट्र की सेवा करने में असमर्थ थी, उन्हीं दिनों एक वैश्य कन्या उनकी सेवा में रहती थी और उसी के

गर्भ से उसी साल धृतराष्ट्र के युयुत्सु नाम का पुत्र हुआ था।[३९]'

इसी कड़ी में पांडवों के अज्ञातवास के दौरान सुदेष्णा (राजा विराट की पत्नी) द्वारा सैरन्ध्री (द्रौपदी) को अपने भाई कीचक के लिए उसकी काम वासना शांत करने को भेजना भी स्त्री का दासी के रुप में देहिक शोषण का जीता जागता उदाहरण है। ऐसा लगता है कि जैसे पुरुष के साथ-साथ स्त्री भी इसे सामान्य परंपरा का हिस्सा मानती थी वरना न सुदेष्णा द्रौपदी को कीचक के पास भेजती और न ही गांधारी अपने पति के दासी संबंधों और उससे युयुत्सु नामक पुत्र के पैदा होने पर मौन रहती। इसका विरोध महाभारत में नजर नहीं आता। यहां सुभद्रा का अर्जुन द्वारा जबरन हरण करना भी ऐसी ही प्रक्रिया का हिस्सा नजर आता है तभी तो जब अर्जुन सुभद्रा को इन्द्रप्रस्थ लेकर आए 'सुभद्रा ने द्रौपदी के पैर छूकर कहा कि बहिन! मैं तुम्हारी दासी हूं।[४०]' साफ है कि दासियों को इन राजाओं के दरबारों में येन केन प्रकरेन लाया जाना और अपने भोग-विलास के लिए इस्तेमाल किया जाना आम बात थी। दासी के रुप में स्त्री शोषण की प्रक्रिया को नारी अस्मिता पर घिनौने दाग के रुप में देखा जा सकता है।

महाभारत में स्त्री को समझने के लिए पुनः भीष्म पर लौटना जरूरी महसूस हो रहा है। गांधारी और धृतराष्ट्र के विवाह के संदर्भ में भी भीष्म की भूमिका स्त्री विरोधी व स्त्री के प्रति संवेदनहीनता की ही नजर आती है। भीष्म ने गांधार राजा सुबल की पुत्री जिसने भगवान शंकर की आराधना करके सौ पुत्रों का वरदान प्राप्त कर लिया है, के लिए धृतराष्ट्र के साथ विवाह का संदेश भेजा। 'जब गांधारी को पता चला कि उसका पति नेत्रहीन है, तब उसने एक वस्त्र का कई तह करके उससे अपनी आंखें बांध ली।[४१]' संभवतः धृतराष्ट्र के साथ गांधारी का विवाह भी दबाव/दहशत के कारण अस्तित्व में आया हो। गांधारी व उसके पिता द्वारा इस विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार करने के पीछे की मानसिकता क्या हो सकती है। एक-शायद गांधार नरेश यानी गांधारी के पिता और गांधारी के पास इस प्रस्ताव को ठुकराने का विकल्प नहीं था। इस प्रस्ताव को स्वीकारने के पीछे इनके डर के अतिरिक्त दूसरी कोई वजह नजर नहीं आती। इससे साफ हैं कि किस प्रकार कुरुवंश का आतंक उस वक्त के राजाओं में मौजूद था।

दो-यदि गांधारी व धृतराष्ट्र का यह संबंध सहज होता तो गांधारी का भाई शकुनि हस्तिनापुर में डेरा न डालता और कुरुवंश के विनाश का कारण नहीं बनता। यहां शकुनि का अपनी बहन के प्रति हुए अन्याय का प्रतिरोध नजर आता है। दुर्योधन के राजा बनाने के पीछे भी कहीं न कहीं शकुनि की यही सोच काम करती नजर आती है। तीन-इस संबंध में नारी की विवशता का दूसरा प्रमाण यह सामने आता हैं कि गांधारी अपनी आंखों पर पट्टी बांध कर आजीवन नेत्रहीन की तरह जीवनयापन करती है। इसे पत्नि का पति के प्रति समर्पण की संज्ञा देना वास्तविकता को नजरअंदाज करना होगा। इसे सिक्के के एक दूसरे पहलू के रुप में यह संदेश देना भी कहा जा सकता है कि किस प्रकार बेमेल विवाह से किसी दूसरे का जीवन अंधकारमय व नारकीय हो जाता है। नारी विरोधी मानसिकता के चलते गांधारी के प्रतिरोध को सिरे से नकारकर पूरे महाभारत में इसे पति के लिए बलिदान के रुप में ही महिमामंडित किया जाता है। इस अन्याय के लिए भीष्म व उस समय के समाज को क्या स्त्री विरोधी मानसिकता के कलंक से मुक्त किया जा सकता है, यह प्रश्न आज भी उतना ही गंभीर व विचारणीय है, जितना उस महाभारत काल में रहा होगा।

कुंतिभोज द्वारा आयोजित स्वयंवर में कुंति ने पाण्डु को जयमाला पहना दी। यह बात स्वाभाविक महसूस होती है। लेकिन मामला यही नहीं रुकता, यह

भीष्म भी स्त्री विरोधी मानसिकता के साथ आगे बढ़ता है। महात्मा भीष्म ने पाण्डु का एक और विवाह करने का निश्चय किया। अतः वे मंत्री, ब्राह्मण, ऋषि, मुनि और चतुरंगिणी सेना के साथ मद्रराज की राजधानी गए। उनके कहने पर शल्य ने प्रसन्नचित्त से अपनी यशस्विनी एवं साध्वी बहिन माद्री उन्हें दे दी।[४२] भीष्म द्वारा पाण्डु के दूसरे विवाह का निश्चय करना और पुरुषवादी सत्ता के **संवाहकों व अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ मद्रराज की राजधानी पर धावा बोलने का सीधा-सा अर्थ यही निकलता है कि यह सब शल्य पर अपना दबाव बनाना था ताकि वह माद्री का विवाह पांडु रोग से पीड़ित पाण्डु के साथ करने को तैयार हो जाए।** इस दूसरे विवाह की दादागिरी वाली पृष्ठभूमि के संदर्भ में देखें तो पाण्डु का कुंती के साथ विवाह भी संदेह के घेरे से परे नहीं कहा जा सकता। **यहां कुंती द्वारा बीमार पांडु का स्वयंवर में वरण करना भी किसी दबाव का हिस्सा हो सकता है।** यह अपने आप में बड़ा सवाल है कि जब यह स्पष्ट था कि पाण्डु बीमार है फिर भीष्म ने उनके दूसरे विवाह की बात क्यों की। दूसरे, वह यह भी जानते थे कि विचित्रवीर्य को उपजे क्षय रोग के कारण वह अपने भाई को गवां चुके थे और पुनः वह पांडु (रक्ताल्पता से ग्रसित) के दो-दो विवाह कराकर क्या उसे वह मौत के मुंह में नहीं धकेल रहे थे। **ऐसे विवाहों में पुरुष तो असामायिक मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और बाद में वैधव्य की पीड़ा भोगने के लिए छोड जाता है बेचारी मासूम महिलाओं को।** भीष्म और महाभारत के काल के समाज को यदि स्त्री विरोधी न कहा जाए तो क्या कहा जाए?

इस संदर्भ में भीष्म द्वारा अस्वस्थ पांडु के दो-दो विवाह करना क्या ऐसा संकेत नहीं देता कि भीष्म की कोई कुंठा रही होगी जिसे के कारण वह बीमार विचित्रवीर्य का विवाह पहले अम्बिका और अम्बालिका के साथ करा देते हैं और उसी की पुनरावृत्ति वह बीमार पांडु के संबंध में कर रहे हैं। इस कुंठा को यदि पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता तो पूरी तरह नकारा भी नहीं जाना चाहिए क्योंकि तर्क की दृष्टि से यह भी एक नजरिया हो सकता है, खैर...। यदि पांडु के जन्म को स्वस्थता की कसौटी पर ठीक ठहराया जाता है तो स्वस्थ संतान की प्राप्ति के लिए ऋषि व्यास का विदुर की मां के साथ शारीरिक संबंध को तर्कसंगत नहीं ठहराया जा सकता, पहली दृष्टि में इसे ऋषि व्यास की काम वासना का हिस्सा ही कहा जाएगा। धृतराष्ट्र के नेत्रहीन और पांडु के रक्ताल्पना के कारण पांडु रोग से पीड़ित होने के संबंध में प्रचलित है कि अम्बिका के संभोग के दौरान आंखे बंद करने से धृतराष्ट्र नेत्रहीन के रुप में पैदा हुए और अम्बालिका के संभोग के दौरान डर जाने के कारण पाण्डु रक्ताल्पता व खून की कमी के रुप में पैदा हुए।

लेकिन सिक्के का एक दुसरा पहलू भी है, जिससे इंकार नहीं किया जा सकता। अम्बिका और अम्बालिका के साथ ऋषि व्यास के शरीरिक संबंध से जुडी दोनो ही स्थितियां इशारा करती हैं कि ये दोनों बहनें व्यास के साथ शारीरिक संबंध के लिए मानसिक रुप से तैयार नहीं थी और उनके साथ जो कुछ भी हुआ वह उनकी इच्छा के विरुद्ध था। यदि इसे बलात्कार की श्रेणी में रख जाए तो भी अनुचित नहीं होना चाहिए। **क्या परंपरा व राज्य के वारिस के पूर्ति के नाम पर किए गए इस कृत्य के लिए भीष्म, सत्यवती, ऋषि व्यास व अन्य व्यक्तियों को निर्दोष ठहराया जा सकता है?** यह प्रश्न अपने आप में बेहद गंभीर है। इसे हल्के में लेना नारी अस्मिता के साथ अन्याय करना होगा। इन दोनों स्थितियों में से प्रचलित मान्यताओं के हिसाब से एक को ही तर्कयुक्त ठहराया जा सकता है। लेकिन यदि इस मुद्दे पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो इस संबंध में दिए जाने वाले दोनों ही तर्क आधारहीन प्रतीत होते हैं और दोनों का उद्देश्य पितृसत्ता के चलते नारी दोहन के अतिरिक्त

कुछ और नहीं हो सकता।

महाभारत में स्त्री अस्मत के खिलवाड की इस कडी में आगे कुंती के चरित्र पर विचार किया जा सकता है। शूरसेन की पुत्री पृथा (कुंती) थी उसने उसे अपनी बुआ के निःसंतान पुत्र कुंतीभोज को दे दिया था और वह वहीं उनकी पुत्री के रुप में रहती थी। यहां यह कहना जरुरी महसूस हो रहा है कि जो स्थिति दुष्यंत-शकुंतला, शांतनु-सत्यवती, विचित्रवीर्य-अम्बिका व अम्बालिका (गौरतलब है कि वह इन दोनों बहनों के साथ रह रहा था क्योंकि चित्रांगत तो पहले ही मर गया था।) के संबंधों को लेकर थी, उससे बद्दतर स्थिति कुंती की और उससे बद्दतर द्रौपदी की कही जा सकती है।

पुनः हम कुंती के विषय पर लौटते है। कुंती से जुडा घटनाक्रम कुछ इस प्रकार है- राजा कुंतीभोज के घर एक तेजस्वी ब्राह्मण (दुर्वासा) आता है और कहता है- ''राजन! मैं आपके घर भिक्षा मांगने के लिए आया हूं। किंतु आपको या आपके सेवकों को मेरा कोई अपराध नहीं करना होगा। यदि आपकी रुचि हो तो इस प्रकार मैं आपके यहां रहूंगा और इच्छानुसार आता-जाता रहूंगा।[४४]'' इसके उत्तर में राजा ने पृथा यानी कुंती से कहा ''बेटी! उन ब्राह्मण-देवता की परिचर्या का भार ही इस समय तुझे सौंपा जा रहा है। तू नियमपूर्वक नित्यप्रति इनकी सेवा करती रहना। पुत्री! मैं जानता हूं कि तेरा बचपन ही ब्राह्मणों के, गुरुजनों के, बंधुओं के, सेवकों के, मित्र संबंधी और माताओं के तथा मेरे प्रति सब प्रकार आदरयुक्त रहा है... यदि तू दर्प, दम्भ और अभिमान छोड़कर इन वरदायक ब्राह्मण देवता की सेवा करेगी तो अवश्य कल्याण प्राप्त करेगी।'' कुंती सेवा का आश्वासन देती है और कहती है - ''ये चाहे सायंकाल में आये, चाहे सबेरे आवें, चाहे रात में आवें और चाहे आधी रात के समय आवें, इन्हें मैं किसी प्रकार कुपित होने का अवसर नहीं दूंगी।[४५]'' दूसरे शब्दों में इसे आज की **लिव-इन-रिलेशनशिप** की संज्ञा देना शायद गलत नहीं होगा। गौरतलब है कि इस प्रकार के जीवनयापन व बच्चे तक पैदा करने की मान्यता इसे आज मिली है। लेकिन इस संदर्भ में उल्लेखनीय बात यह भी है कि यह संबंध पुरुष और महिला की आपसी पसंद, समानता व सहयोग पर आधारित है, किसी द्वारा थोपा हुआ नहीं होता। लेकिन कुंती ने इस दासता जैसी लिव-इन-रिलेशनशिप को जिसमें न उम्र का तालमेल था और न ही आपसी सहयोग व सूझबूझ से इसका कोई लेना-देना ही था, को उस जमाने में स्वीकारा। 'पृथा (कुंती) ने शुद्ध मन से सेवा करके उस तपस्वी ब्राह्मण को पूर्णतया प्रसन्न कर लिया... कभी वे अनियत समय पर आते, कभी आते ही नहीं और कभी ऐसा भोजन मांगते जिसका मिलना अत्यंत कठिन होता...। इस प्रकार एक वर्ष पूरा हो जाने पर भी जब उन विप्रवर को पृथा का कोई दोष दिखाई नहीं दिया।... कहा वर मांग ले, जो इस लोक में मनुष्यों के लिए दुर्लभ हैं। पृथा के मना करने पर भी उन्होंने एक मंत्र दिया और कहा कि इस मंत्र से तू जिस देवता का आव्हान करेगी, वही तेरे आधीन हो जाएगा। उसकी इच्छा हो या न हो, इस मंत्र के प्रभाव से वह शांत होकर सेवक के समान तेरे आगे विनीत हो जाएगा।[४६]'

उपरोक्त घटनाक्रम पर जब हम विचार करते हें तो यह कई प्रश्न खड़े करता है। एक-यह ऋषि (दुर्वासा) एक ओर इच्छानुसार आने-जाने की बात करता है और दूसरी ओर यह राजा से एक प्रकार से एडवांस में सेवा का एग्रीमेंट और सेवकों से कोई अपराध न करने की शर्त रखता है, क्यों? दो-राजा ने कुंती को इस ऋषि की सेवा के लिए क्यों चुना जबकि ऋषि की सेवा के लिए अन्य विश्वासपात्र सेवक या सेवकों का समूह इस जिम्मेदारी को बखूबी निभा सकता था? तीन-क्या कल्याण की जरूरत कुंती के अलावा राजा के शाही खानदान और दरबारियों में अन्य किसी को नहीं थी? चार-वर्षभर ऋषि के इस आवागमन के

दौरान उसका संबंध किसी अन्य से क्यों नहीं रहा? पांच-क्या इस संबंध को सामान्य रुप में पति-पत्नि के संबंध से तुलना नहीं की जा सकती, जहां पति प्रवासी जैसी स्थिति में होता है? और अंत में सबसे अहम सवाल यह उठता है कि यह ऋषि कुंती को जबरन मंत्र क्यों देता है और इस मंत्र के चलते सारे देवता जो संभवतः इस ऋषि के गुलाम नहीं है, कुंती के आधीन क्यों हो जाऐंगे?

इन प्रश्नों के उत्तर तलाशने के लिए महाभारत के इस उद्धरण पर विचार करना अनिवार्य महसूस हो रहा है -'एक दिन कुंती मंत्र के साथ सूर्य का आव्हान करती है और वह उपस्थित हो जाता है और कहता है- ''भद्रे! तेरे मंत्र की शक्ति से मैं बलात् से तेरे अधीन हो गया हूं, बता मैं क्या करू? अब तू तो जो चाहेगी, मैं वही करूंगा।'' वह बिना प्रयोजन लौटने को मना करते हुए कहता है- ''सुंदरी! तेरी ऐसी इच्छा थी कि सूर्य से मेरे पुत्र हो, वह लोक में अतुलित पराक्रमी हो और कवच तथा कुंडल धारण किए हो।[४७]''उसके लोकलाज के डर के कारण मना करने पर वह फिर कहता है- ''भीरु तू बालिका है, इसलिए मैं तेरी खुशामद कर रहा हूं, किसी दूसरी स्त्री की मैं विनय नहीं करता। कुंती तू मुझे अपना शरीर दान कर दे, इससे तुझे शांति मिलेगी।[४८]''यह प्रसंग स्पष्ट संकेत देता है कि जो मंत्र ऋषि ने दिया था वह काम वासना की पूर्ति का मंत्र था। यह मंत्र के देने का घटनाक्रम यह भी स्पष्ट संकेत देता है कुंती ने ऋषि की काम वासना की पूर्ति की होगी तभी उसने यह मंत्र कुंती को दिया होगा। ऐसे निष्कर्ष पर पहुंचने की एक तर्कयुक्त वजह यह भी है कि यदि कोई किसी की धन-संपदा से मदद करता है तो उसके लिए दुआ करने वाला उसको धन-संपदा के भंडार भरे रहने की दुआ देता है। कोई किसी की भूख-प्यास मिटाने में मदद करता है तो लाभार्थी उसे अन्न के भंडार भरे रहने की दुआ देता है, दीर्घायु होने की दुआ करता है, सुख-शांति की दुआ करता है ताकि वह अधिक से अधिक भूखे-प्यासे लोगों की मदद कर सके।

कुंती और उसके मंत्र के विषय में कहा गया है कि एक बार उसने दुर्वासा ऋषि की बड़ी सेवा की। इस काल में किसी कन्या से ऋषि की सेवा कराना अजीब लगता है। खैर यह जो कुछ भी था, उसकी सेवा से जितेन्द्रीय ऋषि बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने पृथा को एक मंत्र बताया और का कि ''कल्याण! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हुँ। तुम इस मंत्र से जिस देवता का आव्हान करोगी, उसी के कृपा प्रसाद से तुम्हें पुत्र उत्पन्न होगा।'' दुर्वासा ऋषि की बात सुनकर पृथा (कुंती) को बडा कुतूहल हुआ। उसने एकांत में जाकर भगवान सूर्य का आव्हान किया। सूर्य देव ने आकर तत्काल गर्भस्थापन किया, जिससे उन्हीं के समान तेजस्वी कवच और कुण्डल पहने एक सर्वांग सुंदर बालक उत्पन्न हुआ। कलंक से भयभीत होकर कुंती ने उस बालक को छिपाकर नदी में बहा दिया।[४९]

मौजूदा संदर्भ में ऋषि जिन देवताओं को आधीन व सेवक होने की बात करते हैं इनका कुंती को किसी शारीरिक व मानसिक कष्ट से मुक्ति में सहायक होने की कही कोई संदर्भ नहीं है और न ही पूरे महाभारत में ये कुंती को किसी धन-धान्य व अन्य किसी प्रकार से समृद्ध बनाने की कवायद ही करते हैं। हद तो तब हो जाती है जब कुंती के पति पांडु किंदम ऋषि के श्राप के कारण अपनी पत्नी व किसी भी स्त्री से शारीरिक संबंध बनाने से वंचित हो जाते हैं। (यदि वे ऐसा दुस्साहस करते हैं तो श्राप के कारण उनकी मृत्यु हो जाएगी।) इसके चलते जब पांडु और कुंती अपना वंश चलाने में असमर्थ हो जाते हैं। साफ है कि पाण्डु पुत्र उत्पन्न करने की स्थिति में नहीं थे। (किंदम के श्राप के कारण या अपने पाण्डु रोग के कारण) ऐसे में पाण्डु कुंती से कहते हैं- ''प्रिये! तुम पुत्र उत्पत्ति के लिए प्रयत्न करो।[५०]'' साफ हैं कि यहां पाण्डु अवैध संतान उत्पत्ति की फरमाइश कर रहे थे, जो किसी

सभ्य व गैरतमंद व्यक्ति के लिए शोभनीय नहीं हो सकता। इसके जवाब में कुंती कहती है –''आर्यपुत्र! जब मैं छोटी थी... मैंने उस समय दुर्वासा नामक ऋषि को सेवा से प्रसन्न किया। उन्होंने मुझे एक मंत्र बतलाकर वर दिया कि तुम इस मंत्र से जिस देवता का आह्वान करोगी, वह चाहे अथवा न चाहे तुम्हारे अधीन हो जाएगा...।'' कुंती से धर्मराज का आह्वान करने को कहा गया और वह सूर्य के समान चमकीले विमान पर बैठकर कुंती के पास आए और कुंती ने उनसे पुत्र मांगा और तदनन्तर योगमूर्तिधारी धर्मराज कुंती को गर्भ रहा और समय आने पर पुत्र उत्पन्न हुआ... युधिष्ठिर।[५१]

ऐसे ही वासुदेव व इन्द्र देव आए गर्भधारणा हुआ और क्रमशः भीम और अर्जुन का जन्म हुआ ऐसा ही माद्री के गंर्भ से संतान पैदा होने के मामले में कुंती कहती है– ''बहिन! तुम केवल एक बार किसी देवता का चिंतन करो। उससे तुम्हें अनुरुप पुत्र की प्राप्ति होगी।'' माद्री ने अश्विनकुमारों का चिंतन किया। उसी समय अश्विनीकुमारों ने आकर नकुल और सहदेव को जुडवा पैदा किया।[५२] ऐसी स्थिति में भी ये देवता किसी काम के सिद्ध नहीं होते। हां, ये सिर्फ एक काम में कुंती की मदद करते हैं, वह हैं कि वे कुंती से अपने यौनाचार की बदौलत तथाकथित धर्मराज युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को अवश्य पैदा करते हैं। हैरत की बात तो यह है कि स्वयं पांडु कुंती से ही नहीं अपनी दूसरी पत्नी माद्री से इसी मंत्र के आह्वान से बच्चे पैदा कराने का आग्रह करते हैं। परिणामस्वरुप, इन तथाकथित देवताओं और माद्री के शारीरिक संबंधों से नकुल और सहदेव पैदा होते हैं। इस घटनाक्रम से साफ है कि इस मंत्र के देने वाले ऋषि, कुंती और मंत्र के आह्वान से उपस्थित होने वाले देवताओं की सारी कवायद सिर्फ बच्चे पैदा करने तक सीमित थी और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। यह कोई आदर्श स्थिति नहीं थी। इस स्थिति की तुलना इक्कीसवीं सदी के तथाकथित संत नारायण साई और बापू आसाराम के खिलाफ मुकद्दमों में सामने आए दुष्कर्मों से की जा सकती हैं। ऐसे कुकर्मों का कभी भी महिमामंडन नहीं हो सकता। इनका खंडन व कठोर से कठोर सजा हो सकती है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ और कभी नहीं।

कुंती के संबंध में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि वह मंत्र जाप करने से क्या होने वाला है, इसका एहसास उसे था। क्या किसी भी स्त्री द्वारा विवाह पूर्व अपनी अस्मत व शरीर को किसी गैर पुरुष को सौंपना व बच्चे पैदा करना तर्कसंगत कहा जा सकता है, संभवतः कभी नही। ऐसा कार्य देवताओं के साथ-साथ कुंती के चरित्र को संदिग्ध बनाता है।

अब द्रौपदी के बारे में विचार करें तो इसकी स्थिति महाभारत की अन्य स्त्रियों की तुलना में ज्यादा खराब नजर आती है। महात्मा ऋषि की कन्या (द्रौपदी) के जन्म के बारे में कहा गया है कि पूर्व जन्म में वह कुरुप थी और उससे कोई शादी नहीं कर रहा था इसलिए उसने तपस्या की और शंकर ने उससे खुश होकर वर मांगने को कहा, कन्या (द्रौपदी) ने कहा– ''मैं सर्वगुणयुक्त पति चाहती हूं।'' शंकर ने कहा– ''तुझे पांच भरतवंशी पति प्राप्त होंगे।'' कन्या (द्रौपदी) ने कहा – ''मैं तो आपकी कृपा से एक ही पति चाहती हूं।'' शंकर ने कहा– ''तूने पति प्राप्त करने के लिए मुझसे पांच बार प्रार्थना की है। मेरी बात अन्यथा नहीं हो सकती। दूसरे जन्म में तुझे पांच ही पति प्राप्त होंगे।[५५] किसी भी धर्म में चमत्कारों की बहुत बड़ी भूमिका होती है लेकिन हिन्दू धर्मग्रंथों में ये चमत्कार सारी सीमाओं को लांघते नजर आते हैं। चिंता की बात तब होती है जब किसी भी अनैतिक, अव्यावहारिक व तर्कहीन बात को धर्म की आड में हकीकत का जामा पहनाने की कोशिश ही नहीं की जाती बल्कि इसे महिमामंडित करने में भी कोई कोर कसर बाकी नहीं छोड़ी जाती। महाभारत ऐसे कारनामों का सबसे

बड़ा दस्तावेज है। द्रौपदी का विवाह सबसे विभत्स उदाहरण प्रस्तुत करता है।

घटनाक्रम कुछ इस प्रकार है कि राजा द्रुपद के मन में अपनी पुत्री द्रौपदी का विवाह अर्जुन से करने की तीव्र लालसा थी और ब्राह्मण वेश धारण किए अर्जुन ने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा दी और उन्होंने पांच बाण उठाकर उनमें से एक लक्ष्य पर चलाया और वह यंत्र के छिद्र में होकर जमीन पर गिर पड़ा।[५६]... जब युधिष्ठिर ने देखा कि अर्जुन ने अपना काम कर लिया है, तब वे झट से नकुल और सहदेव को लेकर वहां से अपने निवासस्थान पर चले गए। द्रौपदी हाथ में वरमाला लेकर प्रसन्नता के साथ अर्जुन के पास गई और उसे उसके गले में डाल दिया।[५७] लेकिन इस दौरान भीम और अर्जुन वहां उठे बखेडे को शांत करके ही उस कुम्हार के यहां गए जहां वे ठहरे हुए थे। इस घटनाक्रम में साफ है कि युधिष्ठिर नकुल और सहदेव के साथ अपने निवासस्थान यानी अपनी मां कुंती के पास पहले ही चले गए थे। जाहिर है कि यह घटना साधारण नहीं थी और इसी स्वयंवर में कर्ण को सूतपुत्र कहकर स्वयंवर में भाग लेने से मना किया गया था। दूसरे, जब द्रौपदी ने ब्राह्मण वेश में अर्जुन को माला डाली थी तो अनय क्षत्रियों से अर्जुन और भीम का भयंकर युद्ध भी हुआ था। यही नहीं स्वयंवर में द्रौपदी को जीता जाना भी दुर्लभ घटना थी। ऐसे में यह कैसे संभव है कि तथाकथित धर्मराज युधिष्ठिर ने इस स्वयंवर और युद्ध के बारे में अपनी मां कुंती को न बताया हो।

यह महाभारत है और यहां द्रौपदी को पांच पतियों की पत्नि को यथार्थ का जामा पहनाने के लिए यह अजीबोगरीब कुतर्क गढ़ा जाता है। 'भीमसेन और अर्जुन ने द्रौपदी के साथ कुम्हार के घर में प्रवेश करके अपनी माता से कहा कि, ''मां हम लोग यह भिक्षा लाये हैं।'' माता कुंती उस समय घर के भीतर थी। उन्होंने अपने पुत्रों और भिक्षा को देखे बिना ही कह दिया कि ''बेटा, पांचों भाई मिलकर उसका उपभोग करो।[५८]'' गौरतलब है कि महाभारत में बार-बार इसका वर्णन मिलता है कि मां अपने पांचों बेटों को अपने हाथों से परोसती थी और खाने में भीम की खुराक का विशेष ध्यान रखा जाता था। वहां भिक्षा में लाई गई खाद्य सामग्री को स्वयं आपस में बांटने का कोई प्रचलन ही नहीं था। दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि जब पहले युधिष्ठिर और नकुल और सहदेव तीनों आए थे और बाद में अर्जुन और भीम द्रौपदी के साथ आए थे। फिर यह कैसे मान लिया जाए कि कुंती ने यह कह दिया हो कि पांचों आपस में बांट लो जबकि तीन तो घर में पहले से ही मौजूद थे और बाद में युद्ध से दो-चार होकर अर्जुन और भीम द्रौपदी के साथ ही आए थे। ऐसे में यह कैसे संभव है कि कुंती यह कहे कि पांचों आपस में बांट लो। ऐसा भी नहीं है कि कुंती अपने वचनों की पक्की और सत्य की प्रतीक थी। वह कर्ण के मामले में शुरु से अंत तक उनके जन्म का रहस्य (पाप) छिपाती रहती है और कर्ण को आजीवन उस अपमान को झेलने के लिए विवश करती है जो कर्ण ने नहीं स्वयं कुंती ने किया था। कर्ण के बारे में चुप्पी यानी वह सारा झूठ ही तो बोलती रही। यदि कुंती में नैतिकता थी या वह सच्चाई की पक्षधर थी तो उसने कर्ण को सूत पुत्र कहे जाने का खंडन क्यों नहीं किया।

अब स्त्री की अस्मत को तार-तार करने वाला पाण्डवों और द्रौपदी के विवाह से जुडे एपीसोड के कुतर्कपूर्ण घटनाक्रम पर विचार किया जा सकता है। जब स्वयंवर में अर्जुन ने द्रौपदी को हासिल कर लिया तो उनके विधिवत विवाह के संबंध में युधिष्ठि ने अर्जुन से कहा- ''भाई तुमने मर्यादा के अनुसार द्रौपदी को प्राप्त किया है। अब विधिपूर्वक अग्नि प्रज्वलित करके उसका पाणीग्रहण करो।'' अर्जुन ने कहा- ''भाई जी! आप मुझे अधर्म का भागी मत बनाइए। सत्पुरुषों ने कभी ऐसा आचरण नहीं किया है। पहले आप, फिर

भीमसेन, तदनन्तर मैं विवाह करु। फिर मेरे बाद नकुल और सहदेव का विवाह हो।... द्रौपदी के सौंदर्य, माधुर्य और सौशील्य से मुग्ध होकर पांचों भाई एक दूसरे की ओर देखने लगे। उनके मन में द्रौपदी बस गई। युधिष्ठिर ने अपने भाइयों की मुखाकृति से उनके मन का भाव जानकर और महर्षि व्यास के वचनों का स्मरण करके निश्चयपूर्वक कहा कि ''द्रौपदी हम सब भाइयों की पत्नी होगी।[५९]'' यहां युधिष्ठिर ने अपने भाइयों की मुखाकृति और मन का भाव यानी उन पांचो भाइयों का द्रौपदी के सौंदर्य, माधुर्य और सौशील्य से मुग्ध होने की पूर्ति के लिए जिसमें खुद युधिष्ठिर की द्रौपदी के प्रति आसक्ति शामिल थी, को ही अमली जामा पहनाने के लिए महर्षि व्यास के वचनों की आड में द्रौपदी को बलि का बकरा बनाया। स्पष्ट है कि यहां तथाकथित धर्म के प्रतीक युधिष्ठिर ने अधर्म के मार्ग को कुतर्क के सहारे अपनी व अपने भाइयों की कामुक व सामुहिक वासना की पूर्ति को तरजीह दी। द्रौपदी की मानसिक स्थिति क्या होगी, उसकी अस्मत का क्या हश्र होगा और इसका नारी जाति पर क्या प्रभाव होगा, इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए शायद इन इतिहास के महानायकों के पास समय ही नहीं था।

यदि शादी के समय में यह ज्येष्ठता व कनिष्ठता का प्रश्न इतना ही प्रभावी था तो स्वयंवर में सिर्फ युधिष्ठिर को ही हिस्सा लेना चाहिए था और उसकी असफलता की स्थिति में छोटों को स्वयंवर में अपनी शादी के लिए किसी प्रकार का जोर आजमाने की कोशिश ही नहीं करनी चाहिए थी क्योंकि बड़े भाई के रहते छोटे को अपने विवाह के लिए किसी स्वयंवर में जोर आजमाना अनैतिक ही कहा जा सकता है। जहां तक द्रौपदी के स्वयंवर का मामला है, इस स्वयंवर में युधिष्ठिर को अर्जुन को प्रतियोगी बनने की अनुमति ही नहीं देनी चाहिए थी। इस संदर्भ में सिक्के का एक दूसरा पहलू यह भी है कि अर्जुन को स्वयं ही नैतिकता के आधार पर इस स्वयंवर में कूदना ही नहीं चाहिए था। साफ है कि यह ज्येष्ठता व कनिष्ठता का सारा मामला कुतर्क पर आधारित है, किसी सत्यता, नैतिकता या मर्यादाओं पर आधारित नहीं। वैसे भी इस कुरु वंश के इतिहास के आधार पर द्रौपदी के संदर्भ में अर्जुन और युधिष्ठिर दोनों के ज्येष्ठता व कनिष्ठता के आदर्श को परखने की कोशिश करें तो इनका सारा आदर्श हास्यास्पद होकर रह जाता है। यह मामला पांडवों के पितामह को कठघरे में लाकर खड़ा कर देता है। भीष्म अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका को अपने पिता शांतनु और सौतेली माता सत्यवती की संतान विचित्रवीर्य और चित्रांगद (भीष्म के छोटे व सौतेले भाई) के लिए बलपूर्वक जीत कर लाया था। ठीक ऐसी ही स्थिति माद्री और गांधारी के क्रमशः पांडु और धृतराष्ट्र की पत्नी बनने के संदर्भ में दिखलाई पडती है। इतना ही नहीं, इससे भी शर्मनाक घटना भीष्म के सौतेले भाई तथाकथित ऋषि व्यास द्वारा अपने छोटे भाइयों की पत्नियों अम्बिका और अम्बालिका से पांडु और धृतराष्ट्र को पैदा करने के संदर्भ में इतिहास के पन्नों में दर्ज है। कुंती का विवाह कैसे...। यहां विवाह के मामले में वरिष्ठता और कनिष्ठता जैसे किसी आदर्श की झलक कहीं नहीं दिखलाई पडती। मुझे महाभारत में स्त्रिया किसी नैतिक मूल्यों की परीधि से परे मात्र भोग की वस्तु नजर आती है।

इस वरिष्ठता और कनिष्ठता के आदर्श की पडताल के लिए हमें भीम और हिडिम्बा के ऐपीसोड पर विचार करना पडेगा। प्रश्न उठता है कि हिडिम्बा के संदर्भ में भीम को हिडिम्बा से बच्चा पैदा करने की अनुमति कुंति और युधिष्ठिर ने कैसे दे दी थी। ऐसा करके ये कौन से धर्म का पालन कर रहे थे। यदि स्त्री को यहां संपत्ति ही समझा जाता है तो शायद ऐसा ही क्रम बनता। लेकिन जब सारे पाण्डवों के जन्म ही संदिग्ध पद्धति पर आधारित है तो इनके विवाह व

आने वाली संतान के संबंध में कहना ही क्या। लेकिन चूंकि हमारा संबंध स्त्री की स्थिति को लेकर है तो कहा जा सकता है कि वहां स्त्री की स्थति बहुत ही दयनीय रही है। जहां तक द्रौपदी की खूबसूरती और सारे पाण्डवों की उसकी ओर आकर्षित होने का सवाल है तो ये अपने कुल की परंपरा ही निभाते नजर आते है जहां नारी के लिए सुचिता का कोई पैमाना ही नहीं बचता। यहां शान्तनु सत्यवती की ओर आकर्षित होते हैं जिनसे पहले ही व्यास जैसी संतान मौजूद है। धृतराष्ट्र गांधारी के गर्भवती होने की स्थति में अपनी सेवा में नियुक्त वैश्य कन्या से ही युयुत्सु जैसी संतान पैदा कर डालता है। पाण्डु के चलते वही स्थिति कुंति और माद्री की बनती नजर आती है जहां उन्हें अस्वाभाविक तरीके से बच्चे पैदा करने पडते हैं।

भीम और हिडिम्बा के घटनाक्रम पर जब हम आगे विचार करते है तो स्थितियां बडी अजीबोगरीब पाते हैं। भीम हिडिंबा से कहते है-''मेरी एक प्रतिज्ञा है। जब तक पुत्र नहीं होगा, तभी तक मैं तुम्हारी साथ जाया करुंगा, पुत्र हो जाने पर नहीं।[६१]'' गौरतलब है कि हिडिंबा ने भीम का वरण किया और द्रौपदी ने अर्जुन का, फिर यहां हिडिंबा के संबंध में मानदंड कुछ और द्रौपदी के संबंध में कुछ और। क्या भीम का सारे पांडवों से पहले विवाह करना और बाप बनना तर्कसंगत कहा जा सकता है और उसका हिडिंबा के प्रति जो रवैया सिर्फ बच्चा पैदा करने तक सीमित होना कौन-सी परंपरा का निर्वाह करता है। क्या यह नारी की अस्मिता व सशक्तिकरण की दिशा में कुछ मदद करता है। ये कुछ ऐसे सवाल है जो महाभारत में स्त्री के प्रति घोर नकारात्मक तस्वीर प्रस्तुत करते हैं।

खैर, अब कुरु वंशियों व पांडवों से हटकर इस घटना को यदि हम राजा द्रुपद के संदर्भ में देखते हैं तो स्थिति काफी चिंताजनक है। द्रुपद युधिष्ठिर से कहते हैं- ''युधिष्ठिर! अब तुम अर्जुन को आज्ञा दो कि वे विधिपूर्वक पाणीग्रहण करें।'' युधिष्ठिर ने कहा- ''राजन! विवाह तो मुझे भी करना ही है।'' द्रुपद बोले- ''यह तो बडी अच्छी बात है, तुम्ही मेरी कन्या का पाणीग्रहण करो।'' युधिष्ठिर ने कहा- ''राजन! आपकी राजकुमारी हम सबकी पटरानी होगी। हमारी माताजी ऐसी ही आज्ञा दे चुकी है।[६२]'' इस संदर्भ में गौरतलब यह भी है कि यहां स्वयंवर के नियम चलने थे या माता के, यह विचारणीय बिंदु है। लेकिन यह महाभारत है, यहां सब चलता है। दूसरे, यह कितना अजीब प्रकरण है कि अर्जुन से पहले युधिष्ठिर पाणीग्रहण के लिए तैयार है और राजा द्रुपद का विवेक देखने लायक है कि वह युधिष्ठिर के साथ ही अपनी पुत्री का पाणीग्रहण करने की पेशकश कर डालता है। ऐसी सोच के चलते स्वयंवर जैसी तथाकथित स्त्री के अधिकारों के महिमामंडन की वकालत अपने आप ही अर्थहीन हो जाती है। जिस शौर्य को द्रौपदी के विवाह का पैमाना बनाया जाता है, इस सारी कवायद में उसका तो कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। एक सवाल अर्जुन के विवेक पर भी उठना लाजमी है। वह यह है-अर्जुन द्वारा द्रौपदी को स्वयंवर में हासिल करने के पीछे क्या उसे भाइयों में दान देना या आपस में बांटना था। यही स्थिति भीष्म की नजर आती है। एक ओर वह शाल्य नरेश की तीनों बेटियों को स्वयंवर से जीत कर लाते हैं और विचित्रवीर्य को भेंट करता है और अपने आप ब्रह्मचर्य और भीष्म प्रतिज्ञाधारी बनाये रहते हैं। भीष्म के ऐसे कार्य क्या नारी जाति से अपनी प्रतिज्ञा की ऐवज में प्रतिशोध तो नहीं था, इस सवाल को, यदि पाठक संदेह की कसौटी पर परखें तो पूरी तरह निर्मूल नहीं कहा जा सकता।

यदि द्रौपदी विवाह के उपरोक्त प्रकरण का संक्षिप्त रुप में विश्लेषण करें तो साफ है कि स्त्री यहां सिर्फ उपभोग की वस्तु है और उसका कोई वजूद ही नहीं है। यहां युधिष्ठिर, अर्जुन, द्रुपद और कुंती बोलते हैं लेकिन द्रौपदी के किसी प्रकार बोलने का भी कोई स्थान नहीं है। यहां स्वयंवर का अर्थ ही खत्म हो

जाता है। यहां भीष्म एक प्रकार से अपने पिता के लिए सत्यवती को लाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वही भीष्म विचित्रवीर्य के लिए अम्बा, अम्बिका व अम्बालिका को जबरन शल्य नरेश(?) के यहां से लाता है। सत्यवती और वही भीष्म पाराशर पुत्र व्यास से अम्बिका और अम्बालिका से बच्चे पैदा कराता है। वही पीलियाग्रस्त पांडु के लिए कुंती और माद्री जाता है और वही नेत्रहीन धृतराष्ट्र के लिए गांधारी लाता है। संभवतः इसी कुरु वंश की परंपरा का निर्वाह भीष्म की अनुपस्थिति में युधिष्ठिर, कुंती और अर्जुन द्रौपदी के संदर्भ में करते नजर आते हैं।

स्त्री अस्मत को तार-तार करने की अति तो तब होती है जब नारद के परामर्श के अनुसार द्रौपदी को लेकर पैदा होने वाले झगड़ों से बचने के लिए नियम पाण्डवों ने तय किए और नारद के सामने प्रतिज्ञा की कि- 'एक नियमित समय तक हर एक भाई के पास द्रौपदी रहेगी। जब एक भाई द्रौपदी के साथ एकांतवास को देख लेगा तो उसे ब्रह्मचारी होकर बारह वर्ष तक वन में रहना पडेगा।[६३]' यह नियम द्रौपदी यानी स्त्री को पशुओं से भी बद्तर स्थिति में पहुंचा देता है। यहां पांडवों ने तो द्रौपदी को मात्र भोग की वस्तु बनाकर ही रख दिया। वह चाहे न चाहे उसे तो अपने पतियों को संतुष्ट करना होगा। एक से मुक्ति मिले तो दूसरा, दूसरे से मुक्ति मिले तो तीसरा...यह ऐसा चक्र था जो कभी समाप्त नहीं होता। भारत में ही क्या मुझे लगता है कि विश्व इतिहास में भी ऐसा उदाहरण देखने को नहीं मिलेगा जैसा महाभारत के इतिहास में एक स्त्री पांच-पांच पतियों के साथ वैधानिक रुप से पत्नी का रिश्ता रखती है।

जहां तक इस अवधि विभाजन के नियम का सवाल है, एक कालचक्र पूरा होने के बाद यानी भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के साथ दाम्पत्य जीवन (?) निर्वाह करने के बाद द्रौपदी का पुनः युधिष्ठिर के पास आकर पुनः पूरे कालचक्र का निर्वाह करना **इन तथाकथित धर्मनिष्ठ व शूरवीरों के लिए और स्वयं द्रौपदी के लिए कितना ग्लानियुक्त रहा होगा, इसका अंदाजा लगाना कठिन नहीं है।** यह स्थिति पशुओं से भी गई-बीती थी और ऐसे कारनामों पर कोई भी सभ्य समाज या व्यक्ति फख्र नहीं कर सकता।

इस व्यवस्था में शुरू से अंत तक द्रौपदी की अपनी इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं दिखलाई पडता। जब अर्जुन ने उसे स्वयंवर में जीता था तो **वह यह क्यों नहीं कह सकी कि वह सिर्फ अर्जुन की पत्नि बनकर रहेगी, किसी अन्य की नहीं क्योंकि उसी ने उसे स्वयंवर में जीता था, किसी और ने नहीं। वैसे भी किसी और की उसे जीतने की औकात ही नहीं थी फिर उसे पत्नि बनाने का अधिकार अन्य किसी को कैसे दिया जा सकता था।** नारद के सामने पांडवों द्वारा की गई प्रतिज्ञा के अनुसार द्रौपदी के लिए ऐसी भी कोई व्यवस्था नहीं थी कि वह कह सके कि वह प्रतीक्षारत प्रत्याक्षी की अपेक्षा अमुक पांडव के साथ अपना अमुक समय बिताना चाहती है। कर्ण द्रौपदी को राजसभा में लाने के संदर्भ में कहता है कि देवताओं ने स्त्री के लिए एक ही पति का विधान किया है। द्रौपदी पांच पतियों की स्त्री होने के कारण निस्संदेह वेश्या है।[६५] निस्संदेह महाभारत के पुरुष प्रधान समाज में द्रौपदी की स्थिति वेश्यालयों में अपनी आजीविका के लिए मजबूर स्त्री से भी बद्तर नजर आती है।

अर्जुन के पक्ष पर विचार करें तो अर्जुन को स्वयं मुखर होकर कहना चहिए था कि स्त्री कोई आपस में सरकारी विभागों की तरह प्रमोशन व अन्य लाभ देने के लिए सीनीयर्टी व जूनिअर्टी के हिसाब से बांटने की वस्तु नहीं है। उसे यह भी कह देना चाहिए था कि उसी ने स्वयंवर में द्रौपदी को जीता है और वही द्रौपदी का पति होने का अधिकारी है। द्रुपद यानी उसके मायके के स्तर पर भी पूरी तरह द्रौपदी के साथ घोर अन्याय हुआ है। इस पूरी प्रक्रिया में पुरुषों के अधिकारों के तहत ही द्रौपदी को बलि का

बकरा बनाया गया। इस पूरी व्यवस्था में स्त्री के नजरिए, उसके हित, उसकी इच्छा और उसके भविष्य के सवालों के बारे में ऐसा लगता है जैसे पैदा ही नहीं होने दिया गया। महाभारत में स्त्री पक्ष की कहीं भी कोई गंभीर चर्चा नहीं है, उसे व्यवस्था की खातिर सिर्फ भोग की वस्तु व बच्चे पैदा करने का साधन मात्र बनाकर हमेशा हलाल किया गया है।

कितना अजीब है कि महाभारत का पूरा सिस्टम ही स्त्री विरोधी है। लगातार सिर्फ यही प्रचारित किया जाता है कि दुर्योधन ने द्रौपदी का चीर हरण किया। कौरवों की सभा में द्रौपदी का चीर हरण हुआ। और बार-बार सिर्फ कौरवों की सभा को ही दोष दिया जाता है। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि द्रौपदी का चीर हरण तो लगातार होता रहा। पहली बार राजा द्रुपद ने जब उसका विवाह पांचों पांडवों से किया तब उसका चीर हरण हुआ। जब युधिष्ठिर समेत सभी ने द्रौपदी को अपनी पत्नी बनाने का तानाबाना बुना और उसे अंजाम दिया गया, तब द्रौपदी का चीर हरण हुआ। उसका चीर हरण कुंती ने तब किया जब उसे पांचों पांडवों में आपस में बांटने और इसे अंमली जामा पहनाने का षड्यंत्र किया। इसके साथ ही व्यास और नारद का इस पूरी प्रक्रिया को कुतर्को के दम पर द्रौपदी पर थोपा जाना द्रौपदी के चीर हरण नहीं तो और क्या है। इस प्रकार कहा जा सकता कि महाभारत में नैतिकता, धर्म और व्यवस्था के ठेकेदारों ने मिलकर सिर्फ द्रौपदी का ही चीर हरण नहीं किया बल्कि पूरी नारी जाति का चीर हरण किया है।

अब कौरवों की सभा में द्रौपदी के चीर हरण के प्रसंग पर विचार किया जा सकता है। सबसे पहले द्रौपदी का चीर हरण तथाकथित धर्मराज युधिष्ठिर ने किया था। द्रौपदी को दांव पर लगाने से पहले युधिष्ठिर कहते हैं- ''हां, उसी सर्वांगसुंदरी लावण्यमयी द्रौपदी को मैं दाव पर रख रहा हूं, यद्यपि ऐसा करते समय मुझे महान कष्ट हो रहा है।[६६]'' यहां युधिष्ठिर द्रौपदी को दांव पर लगाकर द्रौपदी का चीर हरण पहले स्वयं करते है। इस प्रसंग में प्रश्न यह भी उठता है कि यदि युधिष्ठिर ने स्वयं द्रौपदी को स्वयंवर में जीता होता तो क्या वो द्रौपदी को जुएं में दांव पर लगाने का साहस करते, शायद नहीं। इसके उपरांत सभा में उपिस्थत अन्य पांडव युधिष्ठिर को रोकने की अपेक्षा चुप्पी साधे बैठे रहते हैं और तमाशा देखते रहते हैं। इसे भी सभा में उपस्थित पांडवों द्वारा द्रौपदी के चीर हरण के रुप में देखा जा सकता है। पांडवों का चुप रहना एक प्रश्न खडा करता है कि शायद द्रौपदी पांडवों की एक प्रकार से सामूहिक सम्पत्ति थी इसलिए एक दूसरे का मुंह ताकते रहे और किसी ने इसका पुरजोर विरोध नहीं किया। जहां तक अर्जुन का सवाल है, जैसा कि मैंने पहले कहा अर्जुन इस बंटवारे की व्यवस्था से पहले ही संतुष्ट नहीं थे, संभवतः इसीलिए उसने चुप्पी साधी हो।

खैर, कारण कोई भी रहा हो लेकिन इतना तय है कि पांडवों की ओर से किसी प्रकार प्रतिरोध न होना पांडवों का चीर हरण की प्रक्रिया का हिस्सा ही माना जाना चाहिए न कि विवशता का। वैसे भी कौरव-पांडव युद्ध के दौरान कौरवों के साथ-साथ पांडवों की ओर से कोई नैतिकता व ईमानदारी का पालन नहीं किय गया और यदि यही उनका चरित्र था तो उन्हें पहले ही अनैतिक व षड्यंत्रकारी होकर द्रौपदी के चीर हरण को हर कीमत पर रोका जाना चाहिए था। वजह चाहे कुछ भी रही हो लेकिन इतना तय है कि इस घटनाक्रम में नारी की अस्मत के साथ सामूहिक रुप से खिलवाड किया गया है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि जो दुशासन ने किया और जो कौरवों की सभा में द्रौपदी के साथ हुआ वह न्यायसंगत था, बिल्कुल नहीं। इस संबंध में मेरा मानना इतना ही है कि जब हम दुशासन के स्त्री विरोधी घिनौने कारनामों पर अपनी राय बनाएं या जाहिर करें, उस वक्त द्रौपदी के चीर हरण करने वाले समाज के ठेकेदारों के साथ

कोई भी रियायत नहीं होनी चाहिए। यह बडा सवाल है और मैं नहीं चाहता कि यह महत्वपूर्ण सवाल अनुत्तरित रहें।

पुनः नारद द्वारा स्त्री भोग के नियमों पर लौटना अनिवार्य महसूस हो रहा हैं यह एक अलग प्रकार की सच्चाई को बयान करता है। इस नियम को भंग करने का एक प्रकरण महाभारत में दिखाया गया है। प्रकरण कुछ इस प्रकार है कि लुटेरे ब्राह्मण की गाय ले जा रहे हैं और अर्जुन के हथियार उसी कक्ष में हैं जहां द्रौपदी और युधिष्ठिर एकांतवास में बैठे हैं। 'एक ओर कौटुम्बिक नियम, दूसरी और ब्राह्मण की पुकार।' अर्जुन उस कक्ष में चले जाते हैं और युधिष्ठिर की आज्ञा से धनुष उठा लाते हैं और गायों को छुडा लाते हैं और लौटकर स्वयं युधिष्ठिर से कहते हैं- ''भाईजी! मैंने आपके एकांतगृह में जाकर प्रतिज्ञा तोड़ी है। इसलिए मुझे बारह वर्ष तक वनवास करने की आज्ञा दीजिए।[६७]'' युधिष्ठिर इसके लिए मना करते हुए कहता है- ''बड़ा भाई स्त्री के साथ बैठा हो तो वहां छोटे भाई का जाना अपराध नहीं है। छोटा भाई स्त्री के साथ बैठा हो तो वहां बड़े भाई को नहीं जाना चाहिए।[६८]''

यह तर्क बड़ा अजीब और हास्यास्पद है कि जिस कक्ष में युधिष्ठिर और द्रौपदी थी, उसी में अर्जुन का धनुष रखा था। वहां स्थिति ऐसी तो थी नहीं कि वे किसी री-सैट्ल्मैंट जैसी कालोनी में रह रहे थे कि उसी कक्ष में बरतन-भांडे, उसी में सोना व उठना-बैठना और रोजी-रोटी कमाने के औजार भी। यह तर्क अपने आप ही खारिज हो जाता है जब हम महाभारत में यह उद्धरण देखते है- 'भगवान श्रीकृष्ण सात्यकि को साथ लेकर अर्जुन महल में चले गए।[६९]' यानी अर्जुन का अलग भवन था और जाहिर है कि अर्जुन का था तो अन्य का भी अवश्य होगा। साफ है कि सारे पांडवों के अलग-अलग भवन थे। ऐसे में मुझे लगता है कि इसे **अर्जुन द्वारा युधिष्ठिर के एकांतवास में प्रवेश के प्रकरण को उसके विरोध के रुप में देखा जाना चाहिए। विरोध यह कि वह अपनी स्वयंवर में जीती गई पत्नि को किसी से साझा नहीं करना चाहते थे।** वैसे भी विश्वसनीयता की कसौटी पर तो यह बात खरी उतरती नजर आती है। लेकिन गौरतलब है कि किसी भी स्थिति में अर्जुन की यह बगावत द्रौपदी (स्त्री) हितों का पोषण करती नजर नहीं आती। अर्जुन का युधिष्ठिर के एकांतवास में जाना सीधा संकेत देता है कि वह क्यों स्वीकार करें कि शादी के लिए सारे पापड ही नहीं बेले बल्कि जानमाल का जोखिम भी उठाए रामलाल और सुहागरात मनाए भाई श्यामलाल और दूसरे कई लाल। इस घटनाक्रम में तो मामला सिर्फ सुहागरात तक का नहीं था बल्कि एक निश्चित अवधि तक के लिए अपनी पत्नी को दूसरे को देना और बच्चे तक पैदा करने का था। इस स्थिति को कोई भी गैरतमंद व स्वाभीमानी व्यक्ति कैसे स्वीकार कर सकता है। जाहिर है कि अर्जुन का भी यह अपने विरोध का अपना अंदाज था।

दूसरे, युधिष्ठिर की बात तब तर्कसंगत हो सकती है जब बड़ा भाई अपनी मा तुल्य भाभी के साथ बैठा हो या छोटा भाई अपनी पत्नी जो बड़े भाई के लिए बेटी जैसी होती है। यहां मामला ऐसा नहीं है। यहां अर्जुन द्वारा स्वयंवर में जीती गई उसकी स्वयं की पत्नी द्रौपदी का सवाल है। यहां सवाल उस द्रौपदी का है जिसे अर्जुन को स्वेच्छा से या अनिच्छा से युधिष्ठिर समेत अपने अन्य भाइयों के साथ बांटना था या इसके लिए विवश किया गया था जिसमें भीम की बारी भी उससे पहले थी। क्योंकि भीम इस बंटवारे के वरिष्ठिता क्रम में दूसरे नम्बर पर था और अर्जुन तीसरे पर। यहां अर्जुन का बारह वर्ष के लिए वनवास जाना द्रौपदी के लिए कम स्वयं के लिए अधिक जरुरी महसूस होता है। वह अपनी पत्नी को किसी दूसरे, भले ही वह उसका भाई ही क्यों न हो, और भले ही वह प्रतिज्ञा के नियम के अनुसार द्रौपदी के साथ रहा था, अर्जुन को यह सब स्वीकार नहीं हुआ और वह बारह वर्ष के

लिए वनवास चला गया और यहां उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना था।

यहां नागकन्या उलूपी की कहानी अर्जुन के ब्रह्मचर्य पालन में बाधा नहीं थी क्योंकि वह अन्य लोक था। इसी वनवास के दौरान अर्जुन राजा चित्रवाहन की कन्या चित्रांगदा पर आसक्त हो गए, उससे विवाह किया और राजा से शर्त के अनुसार चित्रांगदा से एक पुत्र (बभुवाहन) भी पैदा किया। इसी बारह वर्ष की अवधि के दौरान अर्जुन का कृष्ण की बहन सुभद्रा की ओर आसक्ति का प्रकरण भी होता है। इस प्रकरण में कृष्ण अपनी बहन सुभद्रा (स्त्री) के प्रति अर्जुन की आसक्ति को भांपते हुए कृष्ण अर्जुन से क्षत्रियों के संबंध में कहता हैं- ''क्षत्रियों के यहां स्वयंवर की चाल है। परंतु यह निश्चय नहीं कि सुभद्रा तुम्हें स्वयंवर में वरेगी या नहीं। क्योंकि सबकी रुचि अलग-अलग होती हैं। क्षत्रियों में बलपूर्वक हरकर ब्याह करने की भी नीति है।[७०]'' अर्जुन ने सुभद्रा के संदर्भ में ऐसा ही किया था।[७१]

गौरतलब है कि यह वही काल है जब अर्जुन बारह वर्ष के वनवास पर थे और उन्होंने चित्रांगदा से विवाह ही नहीं किया बल्कि बभ्रवाहन जैसा पुत्र भी पैदा किया। इतना ही नहीं इसी काल में अर्जुन ने सुभद्रा का हरण करके उससे विवाह किया और एक वर्ष द्वारका में उसके साथ बिताया, पुष्कर में रहे और फिर बारह वर्ष पूरे होने होने पर इन्द्रप्रस्थ लौट आए।[७२] साफ है कि इस बारह वर्ष के वनवास के दौरान किसी ब्रह्मचर्य या पश्चाताप की अपेक्षा अपनी कामवासना की पूर्ति निरंतर करते रहे और एक नहीं दो-दो विवाह कर डाले। इस प्रकरण से इस निष्कर्ष पर पहुंचना गलत नहीं होगा कि अर्जुन अपनी पत्नी द्रौपदी को अपने भाइयों से साझा करने के विरोध में वनवास गए थे।

लेकिन यह महाभारत है जिसमें तर्क-विवेक के लिए कोई खास जगह ही नहीं है। इसमें आगे उल्लेख हैं- 'द्रौपदी के गर्भ से भी पांचों पाण्डवों द्वारा एक-एक वर्ष के अंतर पर पांच पुत्र उत्पन्न हुए।[७३]' अब प्रश्न उठता है कि अर्जुन वनवास के लिए चले गए थे तब द्रौपदी विवाह के नियम के अनुसार पहले युधिष्ठिर के पास थी। उसे युधिष्ठिर के बाद भीम के साथ एक निश्चित अवधि गुजारने के बाद अर्जुन के पास आना था। इससे पहले ही अर्जुन वनवास के लिए प्रस्थान कर गए थे तो पांच साल में एक-एक वर्ष के अंतराल से द्रौपदी से पांचों भाइयों से पांच बच्चे कैसे पैदा हो गए। चलो मान लो कि पांच वर्ष में पांच बच्चे पैदा हो गए लेकिन अर्जुन की अनुपस्थिति में अर्जुन का बच्चा द्रौपदी से पैदा हो गया, यह कैसे मान लें। इस प्रकरण में भी एक बड़ा सवाल यह है कि जब अर्जुन अपनी बारी आए बगैर ही बारह वर्ष के लिए वनवास चले गए थे तो इस संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि अर्जुन ने कभी द्रौपदी से सहवास किया ही न हो।

यहां सवाल यह नहीं है कि अर्जुन ने द्रौपदी से सहवास किया या नहीं, **सवाल यह है कि जिस स्त्री ने स्वयंवर में किसी व्यक्ति को अपना पति पूरे विधि-विधान के हिसाब से माना लेकिन उसके साथ जीवन बिताने का उसे अवसर ही नहीं मिला और बाकि ऐरे-गैरे उसकी अस्मत से खिलवाड करते रहे। यह स्त्री की विवशता नहीं तो क्या है।** स्वयंवर में कोई मर्यादा नहीं, कन्या को अपना वर अपनी इच्छा से चुनने का कोई अधिक स्कोप नहीं। कोई वीर या कोई तथाकथित ऋषि ही उसे चुनता/जीतता या हासिल कर सकता था। राजा की संपत्ति, शौर्य और वैभव मात्र ही ऐसे मानदंड थे और मूलतः ऐसे ही आधारों पर पुरुष नारी को अपनी पत्नी के रुप में स्थान प्रदान करता था। इसमें नारी की अपनी मर्जी या स्वेच्छा के लिए कोई स्थान नजर नहीं आता। पूरा महाभारत स्त्री को इसी परिधि में कैद करता है। महाभारत में नारी पुरुष की **कठपुतली** के रुप में नजर आती है और पुरुष

निरंकुशतापूर्वक उसका भोग करता है। उसका ही नहीं, वह कई-कई पत्नियों के साथ-साथ अनेक दासियों का भी भोग करता है। उदाहरण के लिए विचित्रवीर्य की दो, पांडु की दो, अर्जुन की चार (द्रौपदी, उलूपी, चित्रांगदा और सुभद्रा) और कृष्ण की सोलह हजार।[७५]

इस सब के बावजूद भी नारी को कभी विश्वास का पात्र नहीं माना जाता था। इस हकीकत से रुबरु होने के लिए महाभारत से कुछ उद्धरण लिए जा सकते हैं। एक-दिव्य सभा में नारद का प्रश्न रुप में प्रवचन में एक प्रश्न यह भी आता है-'आप स्त्रियों को सुरक्षित और संतुष्ट रखते हैं? कहीं आप उन पर विश्वास करके उन्हें गुप्त बात तो नहीं बता देते?[७६]' विधूर दुर्योधन से कहते है- ''दुर्योधन! तुम अच्छे बुरे कामों में मीठी बात सुनना चाहते हो? अरे भाई! तब तो तुम्हें स्त्रियों और मुर्खों की सलाह लेनी चाहिए।[७७]'' तीन-दुष्यंत शकुंतला से जब उनके और अपने विवाह की बात राजदरबार में करते हैं तो कहते हैं -''स्त्रियां तो प्रायः झूठ बोलती ही हैं तुम्हारी बात पर भला कौन विश्वास करेगां साफ हैं कि उन्हें किसी प्रकार की गुप्त बातें नहीं बताई जाती थी और न ही उन पर विश्वास ही किया जाता था। मीठी बातों को संबंध सिर्फ मूर्खों ओर स्त्रियों से जोडकर यह बताने की कोशिश की गई है कि स्त्रियां मुर्ख होती हैं। दुष्यंत ऐपीसोड एक कदम आगे बढ़कर यह संदेश देता है स्त्रियों पर कोई विश्वास नहीं करता और न ही करना चाहिए। **ये सारी स्थितियां स्त्री के प्रति पुरुषवादी मानसिकता की बेहद नकारात्मक तस्वीर प्रस्तुत करती हैं।** कमोवेश आज भी स्थिति ऐसी ही नजर आती है।

इसके विपरीत स्त्री सदा ही समर्पित नजर आती है। इसी महाभारत में द्रौपदी द्वारा सत्यभामा को दिनचर्या बताई गई यह कितनी विश्वासनीय है और कितनी नहीं, लेकिन स्त्री के विषय में कोई राय बनाने में शायद यह कुछ मदद कर सकती है। दिनचर्या कुछ इस प्रकार हैं -'मैं अहंकार और काम-क्रोध को छोड़कर बड़ी सावधानी से पांडवों की, उनकी अन्यान्य स्त्रियों के सहित सेवा करती हूं। मैं ईर्ष्या से दूर रहती हूं और मन को काबू में रखती हूं। मैं अभिमान को अपने पास नहीं फटकने देती। मैं कटु भाषण से दूर रहती हूं, असभ्यता से खड़ी नहीं होती, खोटी बातों पर दृष्टि नहीं डालती, बुरी जगह नहीं बैठती... अपने पतियों के भोजन किए बिना भोजन नहीं करती, स्नान किए बिना स्नान नहीं करती और बैठे बिना स्वयं नहीं बैठती। जब जब मेरे पति घर में आते हैं, तभी मैं खड़ी होकर आसन और जल देकर उनका सत्कार करती हूँ। मैं घर के बरतनों को मांज-धोकर साफ रखती हूँ, मधुर रसोई तैयार करती हूं। समय पर भोजन कराती हूँ सदा सावधान रहती हूँ, घर में गुप्त रुप से अनाज का संचय रखती हूं और घर को झाड़-बुहार कर साफ रखती हूँ। मैं बातचीत में किसी का तिरस्कार नहीं करती, कुल्टा स्त्रियों के पास नहीं फटकती और सदा ही पति के लिए अनुकूल रहकर आलस्य से दूर रहती हूं। मैं दरवाजे पर बार-बार जाकर खड़ी नहीं होती तथा खुली या कूड़ा-करकट डालने की जगह भी अधिक नहीं ठहरती, किंतु सदा ही सत्यभाषण और पति की सेवा में तत्पर रहती हूं। पति के बिना अकेले रहना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है...।' यह लिस्ट राजकाज, के दान-दक्षिणा, दासियों का भरण-पोषण, हाथी-घोड़ों के मुद्दे, परिवार सेवा और न जाने क्या-क्या है इतनी लम्बी है कि इसका जवाब नहीं। इन बेहुदगियों को देखकर पाठक खुद ही अंदाजा लगा सकते हैं कि इनमें कितनी सत्यता हो सकती है और स्त्री की स्थिति क्या हो सकती है। मेरे कहने लायक शायद कुछ है ही नहीं।

महाभारत में महिलाओं के खरीद-फरोख्त जैसे प्रकरण देखने को मिलते हैं। उद्धरण कुछ इस प्रकार है- कन्या के विवाह के संबंध में युधिष्ठिर भीष्म से पूछते हैं-''पितामह! यदि एक मनुष्य ने विवाह पक्का करके कन्या का शुल्क (मूल्य) दे दिया, दूसरे ने

शुल्क देने का वादा करके ब्याह पक्का किया हो, तीसरा उसी कन्या को बलपूर्वक ले जाने की बात कर रहा हो, चौथा उसके भाई-बंधुओं को विशेष धन का लोभ दिखाकर ब्याह करने को तैयार हो और पांचवा उसका पाणीग्रहण कर चुका हो तो धर्मतः वह किसकी पत्नी मानी जाएगी?[७८]'' इस उद्धरण से स्पष्ट है कि महाभारत काल में महिलाओं को पत्नी बनाने के लिए मूल्य/शुल्क देना, बलपूर्वक हासिल करना, बंधु-बांधवों को विशेष धन देना व बलपूर्वक भी हासिल करने का चलन सामान्य प्रक्रिया का हिस्सा जैसा था। अब प्रश्न यह भी उठता है कि क्या उस जमाने में सामान्य विवाह का प्रचलन नहीं था? एक दूसरी स्थिति यह भी थी कि वहां जब महिलाएं दासी के रुप में हजारों-लाखों की संख्या में होती थी तो जन सामान्य के लिए बहुत अधिक संभव है कि पुरुष-महिला अनुपात इतना कम हो जाता होगा कि जनसाधारण को महिलाओं की खरीद-फरोख्त करनी पड़ती होगी जैसा कि युधिष्ठिर व भीष्म के संवाद से जाहिर होता है।

यहां एक बात और विचार करने लायक है, वह यह कि उस जमाने में ऐय्याशी के लिए सिर्फ युवा दासियों को निरंतर राजाओं और राजदरबारों में भर्ती किया जाता होगा और जो दासियां उम्रदराज हो जाती होंगी, उन्हें एक प्रकार से रिटायर या अन्य प्रकार की सेवाओं के लिए उपयोग किया जाता होगा। ऐसा इसलिए कहा जा सकता है कि राजा कई-कई रानियां रखते थे और दासियों की कोई सीमा ही नहीं थी। कृष्ण की पत्नियों की संख्या सोलह हजार बताई जा रही है तो जाहिर है की आम आदमी के लिए विवाह के लिए कन्या सिर्फ खरीद-फरोख्त के आधार पर ही मिलती होगी और आर्थिक व शारिरिक रुप से कमाजेर पुरुषों का एक ऐसा बड़ा समूह भी हो सकता है जिन्हें स्त्री पत्नी के रुप में उपलब्ध ही नहीं होती होगी। इस आधार पर इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि उस जमाने में महिलाएं जिसकी लाठी उसकी भैस की तर्ज पर हासिल होती थी। ऋषियों द्वारा राजकुमारियों को हासिल किया जाना, राजाओं द्वारा स्त्रियों को सेनाबल व स्वयंवर (कई मामले में आडम्बर युक्त जैसा द्रौपदी के केस में होता है) के आधार पर हासिल किया जाना और विभिन्न तथाकथित शुभ अवसरों पर हजारों की संख्या में महिलाओं/दासियों को उपहार में दिया जाना और ऊपर वर्णित खरीद-फरोख्त की परंपरा तो 'जिसकी लाठी उसकी भैस' की संस्कृति की ओर प्रबल रुप से इशारा करती है। इस विषय में अंतिम निर्णय पाठकों पर छोड़ना ही श्रेयकर होगा।

एक ओर जहां विदुर को विद्वान और राजकीय मर्यादाओं का पालन करने वाला कहा जाता है वहीं दूसरी ओर विदुर की स्त्री (अपनी पत्नी) के प्रति दृष्टि सकारात्मक नहीं लगती। घटनाक्रम कुछ इस प्रकार है- 'युद्ध के उपरांत जब कुंती, गांधारी, धृतराष्ट्र आदि वन में जा रहे थे तो विदुर (संजय भी साथ गया था) अपनी पत्नी को छोड़कर वन क्यों गए।[७९]' यहां अपनी पत्नी के संबंध में न्याय जैसा कुछ भी नजर नहीं आता। ऐसा लगता है कि वे भी स्त्री विरोध की दासता में जीए और जब वे अपनी पत्नी व बच्चों को छोड़कर वन चले गए, यह भी दासता का ही नमूना नजर आता है न कि उनकी विद्वता का।

महाभारत में भीष्म व कृष्ण द्वारा आमतौर पर अर्जुन/भीम/युधिष्ठिर को कुंतीनंदन कहा गया है। पाण्डु नंदन शायद ही कभी कहा गया हो। हां इन्हें पाण्डव जरुर कहा जाता था। शायद इसके पीछे पांडवों उनके पिता (जो मंत्र के कारण उपस्थित होकर संतान उत्पन्न करते थे) को तर्क की कसौटी पर जबरन महिमामंडित नहीं किया जा सकता था। संभवतः इसी वजह से इन्हें मां ने नाम से कुंतीनंदन या कौंतेय कह कर पुकारा जाता था। इसी के चलते दुर्योधन को गांधारीनंदन का प्रयोग भी काफी देखने को मिलता है

जबकि उसके पिता के विषय में पांडवों जैसी संदिग्धता नहीं थी। धृतराष्ट्र को भी अम्बिका नंदन कहा गया है।[८०] धृतराष्ट्र को वीचित्रवीर्य नंदन या व्यासनंदन कहना खतरे से खाली नहीं था, संभवतः इसीलिए धृतराष्ट्र के मां का पुत्र के रुप में संबोधित किया जाता था। एक सवाल यह भी उठता है कि पूरे महाभारत में और महाभारत सीरियल में भीष्म को गंगापुत्र (शान्तनु नंदन बहुत कम या शायद ही कहा गया है) कहकर ही अधिकतर संबोधित किया गया है।[८१] क्या इसके पीछे भी पांडवों को कुंतीनंदन कहे जाने को अमलीजामा पहनाना था। वैसे भी संकट की घडी में और मृत्यु शैया पर भी भीष्म अपनी मां को तो याद करते दिखलाई देते हैं, पिता को नहीं। टी वी सीरियल में भी भीष्म की मृत्यु के समय गंगा को ही दिखाया गया है शान्तनु को नही। इसके विपरीत व्यास को पराशरनंदन कहा गया है।[८२] व्यास को सत्यवती नंदन भी कह गया है।[८३] शायद व्यास को लेकर पिता माता के संबंध कोई बडी कंट्रोवर्सी नहीं थी या उन्हें दोनों ही रुप में स्वीकार्यता हासिल हो गई थी। लेकिन पूरे घटनाक्रम पर जब हम विचार करते है तो पहले प्रश्न दिमाग में आता है कि इस प्रकरण में पुत्र को मां के नाम से संबोधित किया जाना क्या नारी को सम्मान देने के लिए था। लेकिन महाभारत में नारी के प्रति ऐसे सम्मान के लिए कोई जगह नजर नहीं आती। इसके पीछे एक दूसरी वजह भी हो सकती है कि इनके पिता की भूमिका इनके जन्म को लेकर या तो संदिग्ध थी या पितृपक्ष किसी सम्मान का द्योतक नहीं था। इन दोनों में से कौन सी वजह ज्यादा तर्कयुक्त है, संभवतः इसका फैसला पाठकों पर ही छोड़ना ज्यादा श्रेयकर होगा।

महाभारत में जहां एक ओर स्त्री को भोग की वस्तु के रुप में स्वीकार किया गया है और सारी नैतिकता व मर्यादा को ताक पर रख दिया गया है, वहीं दूसरी ओर एक उदाहरण अपवाद रुप में अर्जुन का मिलता है। उर्वशी के अर्जुन पर आशक्त होने की स्थिति में अर्जुन कहते है- ''निःसंदेह तुम मेरी गुरुपत्नि के समान हो। देव सभा में मैंने तुम्हें निर्मिमेष नेत्रों से देखा था अवश्य, परंतु मेरे मन में कोई बुरा भाव नहीं था...। ''इस घटनाक्रम में अर्जुन का ऊर्वशी को गुरुपत्नि के रुप में मानना और उसकी पेशकश को ठुकराना पूरे महाभारत में एक अपवाद जैसा नजर आता है। महाभारत में स्त्री के प्रति इतना गैर-जिम्मेदाराना रवैया और तर्क मौजूद हैं कि इस घटना/अपवाद के तर्क पर यकीन करना मुश्किल हो रहा है। खैर...

उपरोक्त विचारमंथन से यह तो स्पष्ट है कि उस काल में स्त्री की स्थिति अच्छी कतई नहीं थी। यदि इसे बेहद अन्यायपूर्ण, आपत्तिजनक व खंडनीय कहा जाए तो अनुचित नहीं होना चाहिए। इसकी विश्वासनीयता के संबंध में जैसा कि इस निबंध के शुरु में कहा गया है- देवताओं ने महाभारत को वेदों के साथ रखकर तराजू पर तौला है। उस समय चारों वेदों से इसकी महत्ता अधिक सिद्ध हुई है। महत्ता और भगवत्ता के कारण ही इसे महाभारत कहते है।[८५] पर विश्वास करें तो कहा जा सकता है कि वेद भी स्त्री के प्रति कोई न्याय नहीं करते। यदि सरासरी तौर पर इसकी तुलना रामायण से करें तो ऐसा लगता है कि इन तथाकथित धर्मग्रंथों को लिखने वालो द्वारा इरादतन रामायण व महाभारत में काफी समानता करने की कोशिश की गई है। जैसे दशरथ के पुत्र फल से हुए उसी प्रकार पांडव मंत्रों से पैदा हुए और दोनों की स्थिति एक जैसी संदिग्ध नजर आती है। राम सीता को स्वयंवर में जीतता है, वैसा ही अर्जुन करता हैं राम सीता के साथ वनवास जाता है, पांडव भी द्रौपदी के साथ अज्ञातवास जाते है। वहां सीता को रावण चुराता है, यहां उसका प्रयास जयद्रथ करता है। वहां चरित्र लांछन के कारण सीता को अग्नि-परीक्षा से गुजरना पडता है और अंततः उसे वन में छोड दिया जाता हैं यहां अर्जुन अपने चरित्र पर लांछन (द्रौपदी और

युधिष्ठिर के एकांतवास में प्रवेश) के कारण बारह वर्ष के लिए वनवास चले जाते हैं और एक प्रकार से द्रौपदी का त्याग ही कर देते हैं। यदि सीता को नारी का प्रतीक मानें तो रामायण को स्त्री हितों की रक्षक, न्याय प्रदान करने वाली व स्त्री के सशक्तिकरण की पक्षधर कतई नहीं कहा जा सकता। मुझे लगता है कि रामायण का मूल्यांकन महाभारत की तर्ज पर होना चाहिए और नारी जीवन से जुडी वर्तमान समस्याओं के लिए जिम्मेदार इतिहास व तथाकथित धर्मग्रंथों के उन संदर्भों/उद्धरणों का जोरदार तरीके से खंडन होना चाहिए जो आज भी नारी अस्मिता पर हमला ही नहीं करते बल्कि उनके पैरों में बेडियां डालकर उसके सशक्तिकरण की प्रक्रिया को चुनौती देते हैं।

संदर्भ :

१. संक्षिप्त महाभारत (प्रथम व द्वितीय खंड, महाभारत का सरल व संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद) गीता प्रेस, गोरखपुर, तीसवां पुनर्मुद्रण, संपादन व संशोधक जयदयाल गोयन्का) प्रकाशक का निवेदन, २-पृ.२-३, ३.पृ.-३, ४.पृ-४, ५.पृ.२०, ६.प.२१, ७.पृ.२१, ८.पृ.२८, ९.पृ.६६-६७, १०.पृ.६७, ११.पृ.२४४-२४५, १२.पृ.४५७ (खण्ड दो), १३.पृ.३२९-३३०, १४.पृ.५९, १५.पृ.३१, १६.पृ.३१, १७.पृ.०८, १८.पृ.२३६, १९.पृ.१३७-१३७, २०.पृ.६७, २१.पृ.२९६, २२.पृ.२५३, २३.पृ.२४८,२४.पृ.२३४, २५.पृ.२३५, २६.पृ.७२४, २७.पृ.१२०, २८.पृ.३४, २९.पृ.३४, ३०.पृ.५४, ३१.पृ.२८, ३२.पृ.५५, ३३.पृ.४९, ३४.पृ.७२४, ३५.पृ.५७, ३६.पृ.५७, ३७.पृ.५८, ३८.पृ.५८, ३९.पृ.३९, ४०.पृ.१२०, ४१.पृ.५७, ४२.पृ.५७, ४३.पृ.५५, ४४.पृ.३९३, ४५.पृ.३९३, ४६.पृ.३९४, ४७.पृ.३९६, ४५.पृ.३९३, ४६.पृ.३९४, ४७.पृ.३९५, ४८.पृ.३९५, ४९.पृ.३२, ५०.पृ.६२, ५२.पृ.६३, ५३.पृ.३९५, ५४.पृ.३९६, ५५.पृ.९२, ५६.पृ.१०१, ५७.पृ.१०२, ५८.पृ.१०३, ५९.पृ.१०३, ६०.पृ.८५, ६१.पृ.८६, ८५, ६१.पृ.८६, ६२.पृ.१०६, ६३.पृ.११५, ६४.पृ.१२०, ६५.पृ.१६६, ६६.पृ.१६४, ६७.पृ.११६, ६८.पृ.११६, ६९.पृ.२२६ (खंड दो), ७७-१६३. ७८.पृ.५२३ (खंड दो), ७९. पृ.७८८ (खंड दो), ८१-६५१ (दो), ८२.पृ.६५१ (खंड दो), ८३.पृ.७८० (खंड दो) ८४.पृ.२०५, ८५.पृ.०४